स्त्री-विमर्श

हिंदू स्त्री का जीवन

पं. रमाबाई

•

अनुवाद

शंभू जोशी

हिंदू-स्त्री का जीवन

...चूंकि स्त्री और पुरुष मानवीय समाज के एक ही शरीर के हिस्से हैं और साथ ही ये अविभाज्य एकता से जुड़े हैं, अत: उनमें से कोई भी पीड़ा में होगा तो दूसरा भी प्रभावित ही होगा, चाहे वह इसे स्वीकार करे या न करे. जीव-जंतु से लेकर पेड़-पौधों तक में प्रकृति की यह मांग है कि सभी जीवित प्राणी स्वतंत्र रूप से अपनी वृद्धि की परिस्थितियों के साथ अनुकूल विकास करें अन्यथा वे उस रूप को नहीं पा सकेंगे, जो मूलत: उनका आकार है. फिर इस नियम का उल्लंघन क्यों? औरतें पर्दे में क्यों? घर की चारदीवारी में सीमित, अपनी पूरी ज़िंदगी खुली हवा में सांस न ले पाने को मजबूर, वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी कमज़ोर होती जाती हैं. उनकी शारीरिक बनावट क्षीण से क्षीणतर होती जाती है, उनकी भावनाएं समाज के अंधविश्वासों एवं मान्यताओं के बोझ तले दब जाती हैं और उनका मस्तिष्क किसी तरह के विचारों एवं ज्ञान से वंचित रह जाता है...

स्त्री-विमर्श

हिंदू स्त्री का जीवन

The High Cast Hindu Women

का अविकल हिंदी अनुवाद

लेखक
पंडिता रमाबाई

भूमिका
रैचेल एल. बॉडले, ए. एम. एम. डी.

अनुवादक
शंभू जोशी

संवाद प्रकाशन
मुंबई : मेरठ

विश्व–ग्रंथमाला
संपादक : आलोक श्रीवास्तव

सर्वाधिकार : संवाद प्रकाशन
(हिंदी अनुवाद)

प्रकाशक : संवाद प्रकाशन,
आई- 499, शास्त्रीनगर,
मेरठ- 250 004 (उ. प्र.)

मुंबई कार्यालय : ए-4, ईडन रोज़, वृंदावन,
एवरशाइन सिटी, वसई रोड (पूर्व),
ठाणे, पिन- 401 208

मुद्रक : राज आफसेट, मेरठ (पाठ्य भाग)
न्यू हर्षा प्रोसेस, दिल्ली (आवरण)

कवर डिजाइन : संवाद कला विभाग

पहला संस्करण : जनवरी, 2006

मूल्य : 60/

ISBN : 81-87524-85-5

The High Cast Hindu Women
(Women Study)
Translated By Shambhu Joshi

Published by *Samvad Prakashan,*
I – 499, Shastri nagar, Meerut – 250 004, INDIA.
First Edition : 2006

अनुक्रम

अनुवादक की ओर से	9
भूमिका	11
अध्याय -1	
प्रारंभिक टिप्पणियां	35
अध्याय -2	
बचपन	41
अध्याय -3	
वैवाहिक जीवन	50
अध्याय -4	
धर्म व समाज में स्त्रियों का स्थान	61
अध्याय -5	
वैवाहिक अधिकार	68
अध्याय -6	
वैधव्य	73
अध्याय -7	
स्त्रियों की स्थिति से समाज का रिश्ता	87
अध्याय -8	
अपील	94
परिशिष्ट	
रमाबाई : एक परिचय	103

मेरी प्यारी मां

लक्ष्मी बाई डोंगरे की स्मृति में

जिनका प्रभाव एवं समर्थ निर्देशन मेरे जीवन की रोशनी

एवं मार्ग निर्देशक बन चुका है.

उन्हीं को यह छोटा अंश श्रद्धापूर्वक समर्पित है.

आनंदी बाई जोशी

एम. डी.

गणपतराव अमृतेश्वर तथा गंगाबाई जोशी की पुत्री की स्मृति में.

जन्म पूना, बांबे प्रेसीडेंसी, भारत में, 31 मार्च, 1865 (बचपन का नाम : यमुना जोशी)31 मार्च 1874 को गोपालराव विनायक जोशी से विवाह. (पत्नी-नाम : आनंदी बाई जोशी)7 अप्रैल 1883 को कलकत्ता से अमेरिका की यात्रा के लिए प्रस्थान. अमेरिका जाने वाली प्रथम ऊंची जाति की महिला बनीं. 4 जून, 1883 को न्यूयॉर्क में उतरीं. पेन्सिलवेनिया महिला मेडिकल कॉलेज में मेडिसिन में स्नातक. 11 मार्च, 1886 को किसी भी देश में डॉक्टर ऑफ मेडिसिन की उपाधि पाने वाली प्रथम हिंदू स्त्री बनीं. 1जून 1886 को कोल्हापुर (महाराष्ट्र) के एल्बर्ट एड्वर्ड हॉस्पिटल में महिला वार्ड की फिजीशियन इंचार्ज के रूप में नियुक्त हुईं. अक्तूबर, 1886 को कोल्हापुर में अपने उत्तरदायित्व के क्रियान्वयन हेतु न्यूयॉर्क से प्रस्थान किया.

26 फरवरी 1887 को पूना, भारत में निधन.

अनुवादक की ओर से

आख़िर क्या बात है कि मुख्यधारा के इतिहास में कहीं भी पंडिता रमाबाई को वह स्थान नहीं मिला जोकि उनसे भी कमतर (पुरुष इतिहासकारों) को मिला. जबकि पंडिता रमाबाई में वह सब कुछ था जो 'महान' की मुहर लगाने के लिए पर्याप्त होता है -- शिक्षित, विद्रोही, पितृसत्ता की कटु आलोचक. रमाबाई 1870 के नागरिक समाज में एक बड़े विस्फोट के रूप में मौज़ूद रहीं. आख़िर क्यों पंडिता रमाबाई इतिहासकारों की नज़रों में नहीं आ पाईं? इसका कारण यह हो सकता है कि इतिहास लिखने का कार्य उस दृष्टिकोण से होता रहा है जिसमें स्त्रियां एक सक्रिय कर्ता के रूप में कहीं भी नहीं थीं. अर्थात् दूसरे शब्दों में कहा जाए तो इतिहासवादी लेखन पितृसत्तात्मक नज़रिए को पाले था पंडितों ने रमाबाई को 'सरस्वती' कहा लेकिन जैसे ही वह ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के खिलाफ़ बोलने लगीं और ईसाई-धर्म अपनाया, वैसे ही 'सरस्वती' ग़ायब हो गई, अब वह विद्रोहिणी बन गई जो हिंदू-धर्म के खोखलेपन के खिलाफ़ खड़ी थी. रमाबाई ने हिंदू-धर्म -- विशेषत: स्त्री के संबंध में विचारों -- की जिन तर्कों के साथ आलोचना की उससे रुढ़िवादी तिलमिला गए. रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद जैसे व्यक्तियों के उस दौर में भी निर्भीकता से स्त्री की आवाज़ -- समाज के हर व्यवहार पर -- रखने का कार्य रमाबाई ने पूरी शिद्दत से किया. जाहिर है ऐसी महिला को इतिहास में जगह देने का मतलब पितृसत्ता के लिए "आ बैल मुझे मार" जैसी स्थिति पैदा करना था लेकिन सच को कब तक दबाया जा सकता है.

प्रख्यात नारीवादी विचारक व विदुषी उमा चक्रवर्ती ने पंडिता रमाबाई को इतिहास के दबे पन्नों से खोज निकाला और वह खोज हमारे सामने एक महत्त्वपूर्ण स्तंभ के रूप में है. यह खोज भारतीय इतिहास लेखन के पुरुषवादी

दृष्टिकोण पर प्रश्नचिह्न लगाती है और साथ ही नारीवादी इतिहास-लेखन के लिए मजबूत नींव भी प्रदान करती है. उमा चक्रवर्ती ने पंडिता रमाबाई के जीवन / समय / चिंतन पर लिखा है और दिखलाया है कि इतिहास में स्त्रियों की सक्रिय हिस्सेदारी रही है, लेकिन जो स्त्री पितृसत्ता के ख़िलाफ़ बोली, उसे दबा दिया गया और जो उसके पक्ष में बोली या उसके प्रति उदासीन रही -- उसे तरजीह दी गई.

प्रस्तुत पुस्तिका ***हाई कास्ट हिंदू वुमैन*** *का अनुवाद है. यह पुस्तिका रमाबाई ने भारतीय स्त्री (ऊंची जाति या ब्राह्मण) की दयनीय स्थिति की ओर विदेशियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए लिखी थी. यह पुस्तक आज ताराबाई शिंदे की* ***स्त्री-पुरुष तुलना*** *की तरह पितृसत्ता की प्रमुख आलोचक कृति हो गई है और नारीवादियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है.*

आभार

मैं प्रस्तुत पुस्तक के अनुवाद हेतु प्रेरित हुआ -- उमा चक्रवर्ती जी के व्याख्यान को सुनने के बाद -- जो उन्होंने मेरे विश्वविद्यालय (महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा) के स्त्री अध्ययन के विद्यार्थियों को दिए. स्वयं हिंदी भाषी होने के कारण महत्त्वपूर्ण कृतियों का हिंदी में न होना अखरता था. अतएव विचार आया कि 'हाई कास्ट हिंदू वुमैन' से ही शुरुआत की जाए. अनुवाद-कार्य में सहायता करने, हौसला बनाए रखने के लिए अपने प्राध्यापक मनोज मिश्र, विजय भाई एवं अन्य साथियों साथ ही परिवार के सदस्यों का भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूं. संवाद प्रकाशन का आभारी हूं कि एक गुमनाम छात्र को अवसर दिया कि अपनी रचनात्मकता को आप तक पहुंचा सकूं. अंत में उन सभी को हार्दिक धन्यवाद जिन्होंने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से इस कार्य में मेरा सहयोग किया.

-- शंभू जोशी

भूमिका

हज़ारों साल की चुप्पी टूट चुकी है और इस छोटी-सी पुस्तक के पाठक एक अपरिचित-सी आवाज को सुन रहे हैं. असीम पीड़ा से भरी ये आवाज़ें आगे आनेवाले पृष्ठों में पढ़ी-लिखी, बुद्धिमान व सुखी अमेरिकी महिलाओं के सामने लाई गई है.

ये पंक्तियां गहरी संवेदना के साथ लिखी गई हैं; मेरी आंखों से इन पृष्ठों पर गिरने वाले आंसू शायद मेरी आंखों के सबसे दुखभरे आंसू हैं.

बचपन से ही मैं भारत की स्त्रियों की हालत से परिचित रही हूं. मेरी सहानुभूति हमेशा उनके साथ है और उनके बीच काम करने वाली मिशनरियों को वार्षिक दान भी देती हूं, इसे मैंने कभी छोड़ा नहीं है. लेकिन सितंबर, 1883 को नीले रंग की सूती साड़ी में एक प्यारी महिला अपनी विश्वासी सहेली श्रीमती बी.एफ. कारपेंटर (रोसले, न्यूजर्सी) के साथ मेरे घर आई. उस वक़्त मेरे मुंह से शब्द नहीं निकल पा रहे थे. मैं आश्चर्यचकित थी और स्वागत पर किसी शब्द के बदले मैंने उस महिला को चूम लिया. वह प्यारी महिला श्रीमती आनंदीबाई जोशी थी.

तीन महीने से भी कम समय से पूर्व भारत का समृद्ध और पुरातन शहर पूना -- जहां आनंदीबाई का जन्म हुआ -- इससे पहले किसी भी महिला के प्रति सम्मान जताने को व्याकुल नहीं हुआ होगा. पुरातनपंथी हिंदू पुजारियों के द्वारा किए जा रहे ब्राह्मणवादी क्रियाकर्म के अनुष्ठान की तड़क-भड़क के बीच आनंदीबाई की चिता दुखी हिंदुओं की भारी संख्या की उपस्थिति में पवित्र अग्नि से धधक रही थी. अपनी अकाल मृत्यु के साथ ही वह अपने देश की स्त्रियों को बेहतर स्थिति में लाने के प्रयासों के साथ अमर-सी हो गई.

डॉ. जोशी के मेडिसीन में स्नातक की गवाह उनकी रिश्तेदार पंडिता रमाबाई सरस्वती है जो इंग्लैंड से फिलेडेल्फिया आई थी. 6 मार्च, 1886 को मेरे घर में मिलने से पूर्व वे कभी आपस में नहीं मिली थीं, लेकिन रिश्तेदारी की भावना के साथ उन्होंने बहुत बार पत्र-व्यवहार किया. यह भी कम आश्चर्यजनक नहीं है कि दोनों ने एक-दूसरे की जानकारी के बिना एक ही महीने में भारत से यात्रा शुरू की थी, श्रीमती जोशी कलकत्ता से और पं. रमाबाई बंबई से यात्रा कर रही थीं. जिस दिन श्रीमती जोशी (आनंदीबाई) ने न्यूयार्क के लिए लिवरपूल छोड़ा था, उसी दिन रमाबाई और उनकी पुत्री इंग्लैंड में उतरी थीं. 1883 की गर्मियों में दोनों स्त्रियों का -- एक का इंग्लैंड और दूसरी का यूनाइटेड स्टेट्स में -- स्वागत स्नेहपूर्ण और आरामदायक था, जिसकी उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी. इन दोनों में से हर एक मेहनत और लगन के साथ अपने काम में जुट गई जो कि अन्य लोगों के लिए एक रहस्य था. सौभाग्य से फिलेडेल्फिया के इस कॉलेज में मेरी उससे व्यक्तिगत मुलाक़ात हुई. इस 18 साल की स्त्री ने अपनी पढ़ाई जारी रखने साथ-ही-साथ अपने जातिगत नियमों को पालने, ख़ुद खाना पकाने का प्रयास किया. लेकिन उसके कमरे में कोयले का स्टोव पीड़ादायक था और ख़तरनाक भी. उसके द्वारा घर की ज़िम्मेदारियों को पूरा करना वास्तव में प्रशंसनीय था. उसके पिता के घर में -- जैसा कि इस पुस्तक में बताया है -- संयुक्त परिवार को प्राथमिकता थी और परिवार बड़ा होता था. अध्ययन के दौरान वह अपने पति के साथ -- जोकि पोस्ट ऑफिस में काम करते थे- ऑफिस से जुड़े कमरे में रहती थी इसलिए कभी भी उसने अकेलेपन का अनुभव नहीं किया. दो हफ़्तों में ही उसकी सेहत ख़तरनाक स्थिति तक गिर गई तब मैंने आनंदीबाई को अपने घर बुला लिया और बाद में अपनी पढ़ाई के दौरान वह यहां से कहीं नहीं गई. जहां तक कॉलेज की बात है तो उसके बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे आने-जाने की; कमरों, हाल आदि में यहां तक कि सीढ़ियों में भी उसकी यादें बिखरी हुई हैं.

1884, अप्रैल के वसंत में आनंदीबाई ने मिशनरी की वर्षगांठ पर स्त्रियों की एक सभा के सामने भाषण देने के प्रस्ताव को स्वीकार किया तथा ''बाल विवाह'' विषय चुना. उनके श्रोताओं के लिए यह आश्चर्यजनक था कि उन्होंने अपने देश की इस प्रथा का बचाव किया. अगर कोई ऐसा है जो

उस अप्रैल को भाषण सुनकर निराशा महसूस कर रहा हो तो उसे इस पुस्तक में रमाबाई द्वारा लिखित वैवाहिक जीवन के अध्याय को पढ़ना चाहिए और यह जानना चाहिए कि किसी भी ऊंची जाति की हिंदू स्त्री के लिए इस बात से भिन्न बात कहना कैसे असंभव होता है. साथ ही वे लोग यह भी देखें कि कैसे इस भद्र महिला को परंपरा एक तरफ जकड़े थी तो दूसरी ओर उसमें बोलने का साहस भी पैदा कर रही थी.

"मैं एक हिंदू के रूप में (अमेरिका) जाऊंगी और वापस आकर अपने लोगों के बीच हिंदू बनकर ही रहूंगी" -- साहसी और राष्ट्रप्रेम से परिपूर्ण शब्द. एक निश्चय जो आजीवन रहा. रमाबाई द्वारा लिखित वैवाहिक जीवन पर अध्याय -- *1887 के वर्ष में एक हिंदू स्त्री का वैवाहिक जीवन* -- पाश्चात्य पाठकों को बताता है कि वह कौन-सी स्थिति है जिसके कारण आनंदीबाई जैसी सभ्य व सुसंस्कृत स्त्री को -- जिसकी योग्यताएं पाश्चात्य देश में अवसर मिलने पर ख़ूब विकसित हुईं और जिसकी वैज्ञानिक चेतना ने उसे अपने कॉलेज की कक्षाओं में हमेशा ऊंचा स्थान दिलाया -- मनु-संहिता (IX, 22) द्वारा बतलाई गई स्थिति को स्वीकार करना पड़ा. उसने इसे निस्संदेह स्वीकार किया कि "मृत्यु तक उसने धैर्यपूर्वक मेहनत की, आत्मनियंत्रण रखा... और पत्नियों के लिए निर्धारित महान सेवा कार्यों को पूरा करने हेतु हमेशा तत्पर रही." उसने हर परिस्थिति से दो-चार हाथ किए, हिंदू के नाते समाधान निकाले तथा अपने देश की बहनों के उत्थान के लिए कार्य किया व जीवन जिया मगर कुछ हाथ नहीं आया.

निर्वासन के अनेक वर्षों बाद उसने अपने आपको उस चिरपरिचित जगह में पाया जहां उसका जन्म हुआ था. वहां बहनें थी, मां थी, नानी थी. लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी. अच्छा व स्वादिष्ट भोजन उसकी आवश्यकता थी. सबसे उसे प्यार मिल रहा था ख़ासकर मां अपनी प्यारी बेटी को बाहों में भरकर ताक़त दे रही थी. आनंदीबाई की मृत्यु 26 फरवरी, 1887 को पूना में उसी घर में हुई जहां वह जन्मी थी. उसकी मृत्यु के अगले दिन उसके क्रियाकर्म से पहले उसके पति ने "आनंदीबाई के शरीर के राख और धुएं में बदलने से पहले" एक फोटो ली. उस शरीर के राख में बदलने का कारुणिक दुख अनिवर्चनीय है. इस छोटी-सी सुधारक (आनंदीबाई) के संक्षिप्त सार्वजनिक जीवन के दौरान खींचे गए विभिन्न चित्रों में से यह

सर्वाधिक भावपूर्ण है. निराशा और पीड़ा के साथ घोर लड़ाई में मौन होंठ, पीला पड़ा चेहरा, अवयस्क उम्र उसके सारे अमेरिकी साथियों को कभी न भुलाए जाने वाला संदेश पहुंचा रहे थे कि "मैंने वह सब कुछ किया जो मैं कर सकती थी." और बेशक? कौन है जो यह कहने का साहस कर सकता है कि अपनी अकाल मृत्यु की वजह से वह सब प्राप्त नहीं कर सकी जो वह लंबी आयु जीने के बाद करती. वह पति के साथ विदेश -- जहां वह दोनों अजनबियों के साथ रहे -- से लौटी तो हिंदू-रिवाज़ों के मुताबिक उनके साथ अछूतों-सा व्यवहार किया जाना चाहिए था और उनकी छाया से दूर भागना चाहिए था. इस बीच यह पता चलने पर कि वह विलक्षण डॉक्टर हिंदू युवती अपने घर आ चुकी है तो युवा, वृद्ध, परंपरावादी, ग़ैर-परंपरावादी सभी ने उससे सद्भावनापूर्वक भेंट की और उसका स्वागत किया.

सुधारक भी इस तरह का व्यवहार देखकर आश्चर्यचकित थे, क्योंकि विदेश जाकर आए भारतीय व्यक्तियों के साथ ज़्यादातर रुढ़िवादी परिवार ऐसा व्यवहार नहीं किया करते थे. समाचार-पत्रों ने उसकी (आनंदीबाई) सेहत की जानकारी रोज़ प्रकाशित की और जब वह गुज़र गई तब स्थानीय भाषा में पूना के कई जर्नलों ने मातम प्रकट किया और उनके चरित्र व कार्यों की दिल खोल कर प्रशंसा की. रमाबाई ने उनमें से दो का मेरे लिए अनुवाद किया और उनमें से कुछ मैं प्रस्तुत कर रही हूं.

"डॉ. आनंदीबाई जोशी हमारा साथ छोड़कर दूसरे संसार में चली गई, लेकिन उसने जो उदाहरण पेश किया वह व्यर्थ नहीं जाएगा. यह वास्तव में अद्भुत है कि ब्राह्मण स्त्री ने विश्व को बता दिया कि तथाकथित रूप से 'कमज़ोर कहे जाने वाले लिंग (स्त्री)' में भी श्रेष्ठ गुण -- दृढ़ता, निस्वार्थता, निर्भीक साहस और अपने देश की सेवा करने की उत्कट अभिलाषा -- होते हैं. हम लोगों को उसे याद रखना चाहिए और उसके अद्भुत गुणों का गवाह रहना होगा साथ ही उसकी याद को निरंतर आगे बढ़ना चाहिए. हमारे मतानुसार आनंदीबाई के प्रति हमारी इससे बड़ी सच्ची श्रद्धा नहीं हो सकती कि हम उस स्त्री को आवश्यक संसाधन जुटाएं जो चिकित्साशास्त्र (मेडिसिन) पढ़ने की इच्छुक हो." -- *केसरी*, 27 फरवरी, 1887.

"दुर्भाग्य से आज हिंदुस्तान को पूना में एक बड़ी व दुखद हानि झेलनी पड़ी. हमें बताते हुए दुख हो रहा है कि बीते शनिवार को डॉ. आनंदीबाई जोशी मध्यरात्रि को इस संसार से विदा हो गई. वह पूना में

विगत दो माह से थी. वह इस आशा के साथ आई थी कि उसका अपना शहर -- जहां काफी नामी-गिरामी चिकित्सक रहते हैं -- उसके लिए सेहतमंद जगह सिद्ध होगा साथ ही यहां का मौसम और घरेलू प्रभाव उसके स्वास्थ्य को बेहतर बनाएगा. इस देश की स्त्रियों की आशाओं पर तुषारापात हो गया जो उस दिन का इंतज़ार कर रही थीं जब वे आनंदीबाई की अद्भुत योग्यता और ज्ञान से लाभान्वित होंगी."

"यद्यपि आनंदीबाई काफ़ी युवा थी पर उसकी दृढ़ता, निर्भीकता और पति के प्रति समर्पण अद्वितीय था. ऐसा लगता है इस देश में दूसरी आनंदीबाई होने में हमें इंतज़ार करना होगा. क्योंकि ऐसे लोग कभी-कभार ही जन्म लेते हैं. हमें यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि आनंदीबाई इतिहास की उन महिलाओं में श्रेष्ठ स्थान रखती हैं जिन्होंने अपनी भूमि की सेवा करने व उद्धार हेतु दुख सहे... आनंदीबाई ने जो शिक्षा ग्रहण की उसने उनके स्वभाव व विचारों को विस्तृत व उन्नत बनाया. यद्यपि वह अवर्णनीय दुखदाई बीमारी से पीड़ित थी फिर भी कभी कोई शिकायत या अधैर्य का एक शब्द भी नहीं कहा. भयानक बीमारी से अनेक महीनों तक ग्रस्त रहने के कारण आनंदीबाई केवल ढांचा मात्र रह गई और कोई भी व्यक्ति उसे देखकर दुखी होता. यहां यह आश्चर्यजनक है कि आनंदीबाई सोचती थी कि यह उसका कर्त्तव्य है कि वह इस पीड़ा को चुपचाप और आनंद के साथ भोगे... अंतिम तस्वीर लेने के बाद उसके परिवारजनों ने हिंदू रीति-रिवाजों के अनुसार उसके शरीर को नहलाया, कपड़ों और आभूषणों से सजाया. शहर में इस दुखद समाचार को फैलाने का समय नहीं था, मगर जिन्होंने भी इसके बारे में सुना वह अंतिम-संस्कार वाले स्थान पर पहुंचे और आनंदीबाई के प्रति सम्मान, श्रद्धा व्यक्त की. कुछ लोगों को डर था कि पंडित हिंदू क्रियाविधि के अनुसार उसके शरीर को पवित्र अग्नि में सौंपने को लेकर कुछ कठिनाई खड़ी करेंगे, लेकिन यह निराधार साबित हुआ. न केवल आनंदीबाई की अन्त्येष्टि के समय बल्कि उसके जीवित रहते भी उसके पति ने देवी-देवताओं के क्रोध को शांत करने, उसकी मृत्यु को टालने के लिए अनुष्ठान किए तो पंडितों ने उसके विरुद्ध किसी प्रकार की ग़लत धारणा प्रदर्शित नहीं की. उन्होंने इन धार्मिक अनुष्ठानों को संपन्न करवाया जो कि उनके महत्त्वपूर्ण प्रगतिशील दृष्टिकोण का गवाह है. जब उसका शरीर चिता पर रख दिया गया तब श्री वी.एम. रानाडे ने आनंदीबाई के सम्मान में भाषण दिया और बिना किसी बाधा के अन्त्येष्टि संपूर्ण हुई."

-- *ध्यान चक्षु*, 2 मार्च 1887

आनंदीबाई जोशी का कार्य और आम लोगों की उनके व्यक्तित्त्व में रुचि के कारण ही इस भूमिका में यह जानकारी दी गई है. अन्यथा यह जानकारी अमेरिकी साथियों को नहीं मिल सकती थी. उसकी प्यारी रिश्तेदार पंडिता रमाबाई अभी भी कार्यरत हैं न केवल उस समान उद्देश्य के लिए अपितु हिंदू स्त्रियों की मुक्ति के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए भी जिसे पूरा करने का एक अडिग विश्वास आनंदीबाई ने देखा था. अपनी महती आकांक्षाओं की समर्थक और भारत में योग्य साथी के अचानक चले जाने से रमाबाई गहरे शोक में थीं और उन्हें अपने उद्देश्य को पाने के लिए कड़ी मेहनत करनी पड़ी. अपने देश की स्त्रियों को समुचित व बेहतर ज़िंदगी देने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई. यूनाइटेड स्टेट्स में अपने प्रवास के वर्ष में अमेरिकी लोक हितैषियों एवं शिक्षित जनों के संपर्क में आने पर रमाबाई ने पाया कि यहां भारतीय स्त्रियों के बारे में आम लोगों में कई भ्रांतियां हैं. उन्हें रमाबाई ने दूर किया तथा भारतीय स्त्रियों की ज़रूरतों को सामने रखा, जिसके आधार पर इस पुस्तक के अध्याय तैयार किए गए हैं.

रमाबाई ने विश्वास से लिखा कि उस दासता की गइराई को पूरी तरह से समझा जा सकता है, जिसमें भारतीय स्त्रियां निर्दयी अंधविश्वासों और सामाजिक रीति-रिवाज़ों के द्वारा जकड़ी गई हैं. अमेरिकी घरों का प्रकाश एवं प्यार -- जिसने रमाबाई के बोझिल हृदय को सुकून दिया -- वह आगे बढ़ेगा और भारतीय महिलाओं को बंधन-मुक्ति करवाने में सहायता करेगा. *द हाई कास्ट हिंदू वूमैन* लिखने के पीछे किसी यश की कामना नहीं थी और न ही वह मूर्तिभंजक थीं. वह अपने देश से प्रगाढ़ स्नेह रखती हैं. लेकिन उनका यह स्नेह ऊंचाइयों को प्राप्त कर एक कुशल सर्जन के उद्देश्य के समान हो गया है: वह पीड़ा पहुंचाती हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि राहत पहुंचाने में थोड़ी पीड़ा तो सहन करनी ही पड़ती है. रमाबाई का दृढ़ विश्वास है कि भारत तब तक तरक्की नहीं कर सकता और संसार के देशों में कोई स्थान नहीं बना सकता जब तक कि हिंदू घरों में हिंदू स्त्रियों -- जो मां भी हैं -- की स्थितियां नहीं सुधरेगी और संयुक्त परिवार सुखपूर्वक न रहेंगे.

ऊंची जाति की हिंदू स्त्रियों की वर्तमान स्थितियों को आचार-संहिताओं के नियमों की कसौटी पर लाने का प्रयोग पहले कभी नहीं किया गया.

पाठक इस बात का ध्यान रखें कि रमाबाई ने मनु-संहिता के चुने हुए सूत्र सावधानीपूर्वक उद्धृत किए हैं -- यह सूत्र पूरी किताब में फैले हैं -- उन्हें पवित्र मानकर स्त्रियों को निरंतर उच्चारित करने का आदेश मिलता है, भारत में कुछ ही ऐसी स्त्रियां होंगी जिन्होंने शायद ही कभी उन्हें सुना हो (किसी पंडित द्वारा), और उससे भी कम स्त्रियां होंगी जिन्होंने उन्हें (इन सूत्रों को) अपनी आंखों से देखा हो. यहां तक कि स्त्रियों की शिक्षा के मुद्दे पर काफ़ी उदारवादी अनंत शास्त्री ने भी पवित्र पुस्तकों को अपनी पत्नी व पुत्रियों से दूर रखा. संस्कृत साहित्य स्त्रियों तक कविताओं के रूप में पहुंचता था. कविताओं तक सीमित था. उन्हें पवित्र-कर्मकांडों व अनुष्ठान से नहीं जोड़ा जाता था. कलकत्ता में अपनी विद्वता की सार्वजनिक पहचान बन जाने के बाद ही रमाबाई मनु-संहिता देख पाई थीं, इससे पूर्व किताब रूप में इसे नहीं देखा था. रमाबाई ने उद्धरणों में शुद्धता बनाए रखने के लिए एक से ज़्यादा अनुवाद उपलब्ध होने पर उनकी तुलना करने में और कुछ मामलों में मूल संस्कृत से ख़ुद अनुवाद करने में काफी कड़ी मेहनत की. पूरी किताब में कही गई बातें सटीकता से हैं. जब यह किताब भारत पहुंचेगी तो इन कथनों को निस्संदेह झूठे और अधार्मिक बताकर इन पर आक्रमण किया जाएगा और यह भी संभव है कि यूनाइटेड स्टेट्स में भी कुछ व्यक्ति इस तरह के प्रभाव को पैदा करने का प्रयास करें लेकिन रमाबाई की सत्य बोलने की इच्छा उनके इस दृढ़ निश्चय के साथ जुड़ी है कि जीर्ण-शीर्ण प्रथाओं और ख़तरनाक रिवाज़ों को प्रकाश में लाया जाए. भारत के अपने व्यापक अनुभव से जो कुछ उनके सामने प्रकट हुआ, रमाबाई ने कुछ भी नहीं छिपाया है. उन्होंने यह सारी सूचनाएं इसलिए प्रकाशित नहीं करवाईं कि उन्हें सम्मान या लाभ मिले बल्कि इसलिए कि इसके पीछे ईश्वरीय प्रेरणा है. उनका विश्वास था कि स्त्रियों की इस त्रासदी का उद्घाटन लोगों में करुणा का भाव जगाएगा और वे उनके उत्थान के लिए प्रेरित होंगे.

कुछ ऐसे पाठक हैं जो पुस्तक के मुखपृष्ठ पर पंडिता रमाबाई का नाम पहली बार देखेंगे और स्वभावतः पूछेंगे कि यह कौन है? वास्तव में रमाबाई अमेरिकी लोगों के सामने अपने आप को काफ़ी उत्तरदायित्व से परिपूर्ण पाती हैं. रमाबाई को अमेरिकी लोगों के प्रति अपने उत्तरदायित्व का एहसास है. मगर सवाल तो ज़रूरी है ही. अतः नीरसता बढ़ने के जोखिम

के साथ मैं इसका उत्तर देने का साहस करूंगी. किसी भी उत्सुक प्रश्नकर्ता के लिए यह एक अनोखी शुरुआत होगी जब वह इस पुस्तक में उस घटना के बारे में पढ़ेगा जो पवित्र नदी गोदावरी के तट पर एक सुबह घटित हुई. एक आकर्षक व्यक्ति अनंत शास्त्री नदी तट पर सवेरे स्नान करने के लिए आ रहा था और दिन ढले जिस 9 वर्षीया छोटी लड़की को वह अपने साथ ले जा रहा था वह रमाबाई की मां थीं. यह ब्राह्मण पंडित भारत के मंगलौर जिले का निवासी था जिसने "सभी अनुमानों के परे ज़ाकर" इस छोटी लड़की की बेहतर व समुचित देखभाल की. अनंत शास्त्री की 10 वर्ष की उम्र में शादी कर दी गई और उसने अपनी बाल-पत्नी को अपनी मां के संरक्षण में रखा. अनंत शास्त्री को ज्ञान प्राप्ति की बड़ी लालसा थी और वह पूना में रहने वाले प्रसिद्ध विद्वान रामचंद्र शास्त्री -- की प्रसिद्धि से प्रभावित और आकर्षित था. अनंत ने उन्हें गुरु बनाया और सान्निध्य पाया. रामचंद्र शास्त्री को पेशवा राजा ने उनके महल में आकर उनकी पत्नी को संस्कृत की शिक्षा के लिए नियुक्त किया. छात्र अनंत को भी अपने गुरु के साथ जाने का विशेषाधिकार था और इस प्रकार महल में आते-जाते वह कभी-कभार उस स्त्री द्वारा कविता उच्चारण को सुनता था.

वह लड़का आश्चर्यचकित था कि एक स्त्री इतना सीख सकती है और जैसे-जैसे समय आगे बढ़ा. विस्मय का स्थान प्रशंसा ने ले लिया. अनंत ने संकल्प किया कि वह भी अपनी पत्नी को पढ़ाएगा जैसे शास्त्री जी महल में उस रानी को पढ़ाते थे. अनंत की छात्र रूप में शिक्षा 23 वें वर्ष में पूर्ण हुई और वह अपनी गृहस्थी के उत्तरदायित्व को पूरा करने वह गांव चला गया. उसकी पत्नी ने पढ़ने में रुचि नहीं ली. अनंत की मां और सभी बड़े लोगों ने अनंत के अपनी पत्नी को संस्कृत पढ़ाने पर आपत्ति की और यह सब छोड़ने को मजबूर किया. वैवाहिक जीवन आगे बढ़ा, इस युवा दंपत्ति के संतान हुई और अंत में पत्नी की मृत्यु हो गई. यह विधुर पूना में पेशवा के महल और संस्कृत कविताओं को नहीं भुला सका और उसने अपना अगला प्रयोग जल्द ही शुरू करने का निश्चय किया.

पिछले पृष्ठों में हमने यह जाना कि कैसे अनंत ने उस छोटी पत्नी को स्वीकारा जो उसे दी गई थी. कई मील दूर अपने घर में उसकी देखभाल की. उसे अपनी मां को सौंपा और तत्काल संस्कृत सिखाना शुरू किया. लेकिन

घर के बड़े-बुजुर्गों ने पहले की भांति आपत्ति की; वह छोटी पत्नी कम वय के कारण इस संबंध में मुंह न खोलती थी और तब पति ने तय किया कि स्त्री-शिक्षा का उसका प्रयोग बिना किसी बाधा के चलना चाहिए. इसलिए उसने वह क्षेत्र और उन लोगों को छोड़ दिया जो संकीर्ण सोच रखते थे तथा अपनी पत्नी के साथ पश्चिमी घाट के सुदूर पठार के गंगामूल के वनों में चला गया और कहा जाना चाहिए कि वनों में ही आवास बनाया. रमाबाई बचपन में मां के द्वारा वर्णित बातों की याद करते हुए बताती हैं कि कैसे निर्जन सालवान के वन में बिना किसी आश्रय स्थान के उनकी पहली रात बीती. एक चीता अंधेरे में तंग घाटी में से आया. उसकी गर्जना रात्रि को और भी भयंकर बना रही थी. उस छोटी वधू ने ख़ुद को अपनी *पसोडी* (सूती रजाई) में लपेट लिया और भयाक्रांत ज़मीन पर लेट गई. इसी बीच पति ने भोर होने तक निगरानी रखी जब तक कि वह भूखा जानवर चला नहीं गया. जंगल में जानवर घूमते थे और वह बाल-वधू इससे ख़ुद को भयभीत महसूस करती थी, परंतु पढ़ाई बिना किसी बाधा के चल रही थी और दिन प्रतिदिन लक्ष्मीबाई की सुंदरता व ज्ञान में वृद्धि हो रही थी. एक कच्चा घर बनाया गया और कुछ वर्षों बाद वन के उस घर में दो पुत्रियों एवं एक पुत्र ने जन्म लिया. पिता ने अपने आपको पुत्र और बड़ी पुत्री के साथ ही अपने युवा छात्रों की शिक्षा में समर्पित कर दिया. ये छात्र एक प्रसिद्ध ब्राह्मण पंडित अनंत शास्त्री -- जो उनके शिक्षक थे -- के सानिध्य में थे, जिनका घर पवित्र नदियों के उद्गम वाली पहाड़ियों में था. अत: उनके शिष्यों के लिए यह एक तीर्थ-स्थान बन गया. जब अप्रैल, 1858 को छोटी पुत्री रमाबाई का जन्म हुआ तब उसके पिता बूढ़े हो चुके थे. उनमें इतनी ताक़त नहीं बची कि वह उसे पढ़ा सकें. साथ ही वह अन्य कामों में व्यस्त थे. इसलिए माता पर यह भार आ पड़ा कि वह रमाबाई को संस्कृत पढ़ावें. आवासीय छात्रों, अतिथि तीर्थयात्रियों और वृद्ध पिता-सास के इस परिवार -- जिसमें तीन बच्चे भी थे -- का ध्यान रखने का ज़िम्मा शिक्षित लक्ष्मीबाई पर था. इस व्यस्तता में अपनी छोटी बेटी की शिक्षा के लिए जो समय था वह था -- ब्रह्ममुहूर्त का. रमाबाई भावुकता के साथ याद करती हैं कि उनकी प्रारंभिक शिक्षा अपनी मां की बांहों में ही हुई थी. उस छोटी कन्या को भरी नींद से सावधानी से बिस्तर से उठाया जाता और लाड़-प्यार से उसे जगाया जाता.

फिर चिड़ियाओं की चहचहाट की मधुर ध्वनि के साथ पाठ दोहराए जाते. मां की मधुर ध्वनि के अलावा और कोई पुस्तक नहीं थी. हर एक दिन उन पाठों में नया जुड़ता जाता और यह वह मुख्य निर्देशक बना जिसे बाद में लेखिका ने ''अपने जीवन का प्रकाश और मार्गदर्शक'' कहा.

लेकिन यह हिंदू घर था कोई अमेरिकी घर नहीं जहां इस तरह का लाड-प्यार भरा मातृत्व माता-पिता के लिए बूढ़े दिनों में फलदायक होना था. प्रथाओं के कठोर शासन के दबाव में अनंत शास्त्री ने अपनी बड़ी पुत्री की शादी छोटी उम्र में कर दी. इस पुस्तक के पृष्ठों पर हम उस दुखपूर्ण अवस्था को जान सकते हैं जिसने इस परिवार को अपने आगोश में ले लिया. तथापि इससे पहले अनंत शास्त्री की एक अध्यापक के रूप में प्रसिद्धि और वन्य-क्षेत्र में पवित्र आवास ने उन्हें क़र्ज़दार बना दिया. अतिथियों के लिए भोजन-व्यवस्था और उनसे जुड़े धार्मिक दायित्वों को हर कीमत पर पूरा करना पड़ता था. पैतृक गांव में जो भूसंपत्ति थी -- जिसमें लक्ष्मीबाई के पुत्र का भी हिस्सा था -- उसके आधे भाग को पुत्र की सम्मति से क़र्ज़मुक्त होने के लिए बेच दिया. बाद में यह परिवार बेघर होकर तीर्थयात्रा पर निकल पड़ा. पाश्चात्य पाठक -- जिनके लिए बिना घर के परिवार की कल्पना मुश्किल है -- के लिए यह विश्वास करना कठिन है कि यह हिंदू-परिवार इस प्रकार सात वर्षों तक घूमता रहा. रमाबाई नौ साल की हो चुकी थीं जब वे लोग तीर्थयात्रा पर निकले थे.

यात्रा के दौरान जब मराठी पंडित व पत्नी-बच्चे बिना किसी निश्चित रहने की जगह के एक तीर्थस्थान से दूसरे तीर्थस्थान जा रहे थे, सुबह के पाठ निरंतर जारी थे. रमाबाई में विलक्षण योग्यता विकसित हो रही थी और माता-पिता के निर्देशों के तहत वह ''अद्भुत विदुषी'' बन रही थी. पढ़ाई में तन्मय रमाबाई को 16 वर्ष की आयु तक अविवाहित रखा गया. उसी समय लगभग डेढ़ माह के भीतर उसके माता-पिता की मृत्यु हो गई.

रमाबाई कहती हैं, ''प्रारंभ से ही मुझे पुस्तकों से प्रेम रहा है. यद्यपि मैंने औपचारिक रूप से मराठी नहीं पढ़ी है मगर मराठी में माता-पिता को बोलते हुए सुनकर, किताबों और अख़बारों को पढ़कर मैंने इसका सही ज्ञान प्राप्त कर लिया. इसी तरह भ्रमण के दौरान मैंने कन्नड़, हिंदुस्तानी और बंगला का ज्ञान प्राप्त किया. मेरे माता-पिता ने मेरे साथ वैसा बर्ताव नहीं

किया जैसा कि अन्य माता-पिता अपनी बेटी के साथ करते हैं. जैसे -- बचपन में शादी करके उपेक्षा के अंधकार में ढकेलना. इस संबंध में मेरे माता-पिता एकमत थे.'' तीर्थयात्रा पर चल रहे परिवार पर जब मौत का कहर टूटा तो इसके सबसे पहले शिकार बूढ़े और अनेक वर्षों से लगभग अंधे हो चुके अनंत शास्त्री बने और छः सप्ताह के बाद माता भी चल बसीं. इस परिवार की ग़रीबी की दशा भयावह थी, परिणामतः ब्राह्मण अपने माता की मृत्यु से तीन मील दूर श्मशान घाट तक उन्हें ले जाने में भी सक्षम नहीं थे. अंततः दो ब्राह्मणों को उन पर दया आई और उनकी सहायता से श्रद्धालु पुत्र और पुत्री ने इस अमूल्य भार को अन्त्येष्टि स्थल तक उठाया. रमाबाई के क़द में छोटे होने के कारण उन्हें अर्थी को सर पर उठाना पड़ा.

मैं इस अकथ्य प्रतिज्ञा का वर्णन क्यों कर रही हूं? क्यों? कारण है कि हम अमेरिकी स्त्रियों ने अपने घरों में ऐसा कोई चेहरा नहीं देखा होगा जिस पर दुखों का ऐसा पहाड़ टूटा हो जैसा कि रमाबाई पर टूटा. अपनी समृद्धि के साथ हमें यह याद रखना होगा कि सभी मनुष्य एक समान है, उनमें एक ही रक्त है. फिलेडेल्फिया शहर में इस पुस्तक को लिखने वाली रमाबाई और उसकी प्यारी मां -- जिसे उसने यह पुस्तक समर्पित की -- दोनों पहले गंगामूल के वनों में और बाद में तीर्थयात्रा के धूल भरे पथ के दौरान ईश्वर के सच्चे ज्ञान से विहीन थीं, लेकिन अपने इस आध्यात्मिक अंधकार में भी वे दोनों एक-दूसरे को गहराई से प्रेम करती थीं और अन्य भावनाओं की तीव्रता के बीच जीवन व्यतीत कर रही थीं.

माता-पिता की मृत्यु के बाद बड़ी बहन, भाई और रमाबाई निरंतर भ्रमण करते रहे. उन्होंने भारत के अनेक प्रांतों -- पंजाब, राजपूताना, सेंट्रल प्रोविंस, आसाम, बंगाल, मद्रास आदि की यात्राएं कीं. इस दौरान निरंतर तनाव और अभाव भी साथ रहा. उन्होंने अपना समय स्त्री-शिक्षा के समर्थन में लगाया यानि ऊंची जाति की हिंदू लड़कियों को उनकी शादी से पहले प्राचीन शास्त्रों के अनुसार संस्कृत और उनकी स्थानीय भाषा में शिक्षा देनी चाहिए.

अपनी यात्रा के अंतिम पड़ाव के रूप में वे कलकत्ता पहुंचे. एक युवा संस्कृत विदुषी और उसके भाषणों ने अपने प्रगतिशील विचारों और योग्यता से सनसनी फैला दी. कलकत्ता की विद्वतजनों की मंडली के सामने उसकी

परीक्षा ली गई और सफल होने पर 'सरस्वती' पदनाम से विभूषित किया गया. इसके तुरंत बाद उसके भाई की मृत्यु हो गई. रमाबाई लिखती हैं कि "उसकी संक्षिप्त बीमारी के दौरान उसके मन में मुझे लेकर यह विचार था कि इस संसार में अकेले रहने पर तुम्हारा क्या होगा?" जब उसने दुखी होकर पूछा तो मैंने जवाब दिया "कोई नहीं है लेकिन भगवान तुम्हारी व मेरी देखभाल करेगा" उसने उत्तर दिया "ओह! मगर ईश्वर को हमारी परवाह है तो मुझे किसी बात का डर नहीं." "वास्तव में अपने अकेलेपन में मैंने ईश्वर को अपने पास अनुभव किया, मैंने उसकी उपस्थिति को महसूस किया." "छ: महीने के बाद मैंने एक बंगाली सज्जन, बिपिन बिहारी मेधावी, एम.ए.बी.एल. वकील और कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातक से शादी की. लेकिन हम दोनों में से कोई भी न तो हिंदू और न ही ईसाई-धर्म में पूरा विश्वास करता था, अत: हमने कोर्ट में शादी की... वैवाहिक जीवन के उन्नीस महीनों के बाद मेरे पति की हैजे के कारण मृत्यु हो गई. यह दारुण दुख मुझे ईश्वर के समीप ले आया. मैंने यह महसूस किया कि वह मुझे निर्देश दे रहा है और अगर मैं उसके क़रीब जाऊंगी तो वह मुझे अपनी ओर ज़रूर खींचेगा." पति की मृत्यु के कुछ महीने पहले इस ख़ुशनुमा घर में एक बच्ची ने जन्म लिया -- माता-पिता दोनों की इच्छा एक पुत्री की थी और इस तरह दोनों ने बहुप्रतीक्षित संतान को पाया और एक सुंदर नाम दिया -- मनोरमा *(मन को आनंद प्रदान करने वाली)*.

विधवा रमाबाई पुन: अपने व्याख्या के काम में जुटीं. हिंदू-स्त्रियों की स्थिति को पुराणों व अन्य शास्त्रों में कैसे वर्णित किया गया और वर्तमान समय में उसके विकृत कर दिए गए स्वरूप को बतला कर आलोचना करना रमाबाई का प्रमुख ध्येय था. उनकी तीव्र उत्कटता और उत्साह ने उन्हें अनेक प्रशंसक दिए जिसमें डॉ. डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर थे जो कि भारत में ब्रिटिश शैक्षणिक हितों से प्रमुख रूप से जुड़े हुए थे. हंटर के अनुसार रमाबाई के प्रयास और काम इतने सुव्यवस्थित हैं कि उनकी प्रशंसा होनी ही चाहिए अत: उन्होंने रमाबाई को एडिनबर्ग में एक व्याख्यान के लिए बुलाया.

डॉ. हंटर कहते है "जब मैने यह बताया कि एक ऊंची जाति की भारतीय नारी इस तरह के काम में लगी है तो प्रबुद्ध अंग्रेज़ी श्रोता एक साथ उठे और अपने देश की बहनों के लिए रमाबाई द्वारा किए जा रहे प्रयासों के

लिए तालियों से अभिनंदन किया.'' उसके बाद रमाबाई का नाम इंग्लैंड और भारत के उन सभी लोगों के लिए जाना-पहचाना सा हो गया जो हिंदुस्तान के लोगों की सामाजिक उन्नति में रुचि रखते थे.

अपने देश की महिलाओं की पतनशील स्थितियों को सुधारने के उद्देश्य से रमाबाई ने पूना में स्त्रियों की एक संस्था खोली जिसे 'आर्य महिला समाज' नाम दिया. उसका उद्देश्य देश में स्त्रियों की शिक्षा का स्तर बढ़ाना और बाल-विवाह को हतोत्साहित करना था. इसके बाद रमाबाई बाम्बे प्रेसिडेंसी के शहर-शहर में गई, इस संस्था की शाखाएं खोलीं और अपनी उचित अपीलों द्वारा लोगों को जागृत करने का काम किया. सितंबर, 1882 को इंग्लिश एज्युकेशन कमीशन, पूना में आया, जिसका उद्देश्य पूना के शैक्षणिक संस्थानों का निरीक्षण करना था. इस संस्था और अन्य संस्थानों की लगभग 300 ब्राह्मण महिलाओं ने अपने बच्चों के साथ टाऊन हाल में एकत्र होकर इस कमीशन का स्वागत किया. वे इस कमीशन को बताना चाह रही थीं कि यद्यपि म्युनिस्पल्टी लड़कियों का स्कूल खोलने में रुचि नहीं लेती है फिर भी मराठी प्रदेश के श्रेष्ठ परिवारों द्वारा एक सच्चा आंदोलन चलाया जा रहा है. पंडिता रमाबाई इस अवसर पर वक्ता थीं.

एज्युकेशन कमीशन के अध्यक्ष डॉ. हंटर ने कमीशन की मुलाक़ात के दौरान मिलने वाले अनेक लोगों में से रमाबाई को एक ख़ास व्यक्तित्त्व बताया. उन्होंने रमाबाई के प्रमाणों को इतनी प्रमुखता दी कि इन्हें मराठी से अनूदित कराया और अलग से प्रकाशित करवाया. इसकी एक प्रति मेरे सामने है, जो मैं प्रस्तुत कर रही हूं. वहां तीन प्रश्न पूछे गए थे --

> प्रश्नः ''भारत में शिक्षा के विषय पर कोई विचार / मत बनाने के लिए आपके पास क्या अवसर हैं और आपने प्रोविंस के अनुभवों से क्या सीखा?''
>
> उत्तरः ''मैं उस व्यक्ति की संतान हूं जिसे स्त्री शिक्षा का समर्थन करने पर कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और व्यापक विरोध के बीच उन्हें इस विषय पर बहस करने को और अपने विचारों को क्रियान्वित करने हेतु दबाव डाला गया... मैं आजीवन इस देश में स्त्रियों की समुचित स्थिति की वकालत करना और इसके लिए कार्य करना अपना दायित्व समझती हूं.
>
> प्रश्नः ''लड़कियों के लिए अध्यापिकाएं उपलब्ध कराने का बेहतर तरीका क्या है?

उत्तरः "मेरा अनुभव इस बात को प्रमाणित करता है कि जो स्त्रियां अध्यापिकाएं बनना चाहती हैं उन्हें इसका पर्याप्त प्रशिक्षण दिया जाए. इसके अलावा अपनी भाषा के समुचित ज्ञान के साथ-साथ उन्हें अंग्रेज़ी का भी ज्ञान होना चाहिए. प्रशिक्षण प्राप्त करने वाली महिला अध्यापिकाएं-विवाहित-अविवाहित-विधवा जो भी हों, उन्हें अपने आचार-व्यवहार एवं नैतिकता में सही होना चाहिए और वे सम्मानित परिवारों से होनी चाहिए. उन्हें पर्याप्त समुचित छात्रवृत्तियां उपलब्ध होनी चाहिए. लड़कियों की अध्यापिकाओं को लड़कों के अध्यापकों से ज़्यादा वेतनमान देना चाहिए ताकि वे श्रेष्ठ स्तर व चरित्र को प्राप्त कर बनाए रख सकें. छात्राओं को कालेज परिसर में रहना चाहिए ताकि उनके तौर-तरीके और आदतें सुधारी जा सकें तथा एक विशाल इमारत होनी चाहिए जहां अध्यापिकाएं एवं विद्यार्थियों के लिए हर प्रकार की समुचित व्यवस्था हो. किसी स्थानीय श्रेष्ठ महिला को इसका भार सौंपना चाहिए. केवल सीखना ही पर्याप्त नहीं होना चाहिए अपितु विद्यार्थियों का आचार-व्यवहार व नैतिक आचरण क्रिया रूप में उतरना चाहिए.

प्रश्नः "आपने जो विभिन्न दोष बताएं हैं, उनके अलावा वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में प्रमुख दोष आप क्या देखती हैं? साथ ही इस दोष को दूर करने हेतु आपके पास क्या सुझाव है?

उत्तरः "लड़कियों के विद्यालयों के लिए स्त्री निरीक्षिकाएं ही होनी चाहिए. ये निरीक्षिकाएं 30 वर्ष या उससे अधिक उम्र की, सुशिक्षित व श्रेष्ठ वर्ग की होनी चाहिए फिर चाहे वह भारतीय हों या यूरोपीय. पुरुष निम्न कारणों से उचित नहीं ठहराए जा सकते हैं --

1- इस देश की महिलाएं संकोची स्वभाव की हैं. अगर एक पुरुष निरीक्षक किसी छात्रा-विद्यालय में जाता है तो सभी स्त्रियां व छात्राएं डर जाती हैं और उनकी ज़बान बंद हो जाती है. यह स्थिति देखकर निरीक्षक विद्यालय व शिक्षिकाओं के बारे में बुरी रिपोर्ट देता है और संभवतः सरकार इस विद्यालय के लिए पुरुष अध्यापक की नियुक्ति करेगी और इस तरह विद्यालय को स्त्री-शिक्षिका का लाभ नहीं मिलेगा. चूंकि लड़कियों की शिक्षा लड़कों की शिक्षा से भिन्न है अतः छात्राओं के विद्यालयों का भार स्त्री शिक्षिकाओं के हाथ में होना चाहिए.

2- दूसरा कारण है कि 100 में से 99 मामलों में इस देश का सुशिक्षित पुरुष स्त्री-शिक्षा व स्त्री की उन्नति के विरोध में है. अगर उन्हें कोई छोटी-सी ग़लती दिख जाती है तो वह राई का पहाड़ बना देते हैं और स्त्री के चरित्र को ख़राब करने का प्रयास करते हैं. प्रायः दुखी स्त्री जो न तो साहसी बन पाती है, न ही सूचनाओं से लैस होती है, उसका पूरा उत्साह

टूट जाता है. यह विश्वास बन गया है कि पुरुष-सत्ता तक आसानी से पहुंच सकते हैं और स्त्रियों को चारदिवारी में सीमित रहना चाहिए और अभिभावकीय सरकार की नज़र में उसकी संतानें -- फिर चाहे वह पुरुष हो या स्त्री -- समान होनी चाहिए. दोनों को समान न्याय मिलना चाहिए -- यह एक प्रमाण है कि इस देश की जनसंख्या के आधे हिस्से -- स्त्रियों के साथ -- बाकी बचे आधे हिस्से पुरुषों द्वारा दमनात्मक एवं निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया जाता है. इस असंगति को रोकना एक अच्छी सरकार के लिए प्रशंसनीय है.

3. मैं एक अन्य सुझाव और देना चाहूंगी, वह स्त्री-चिकित्सक के बारे में है. यद्यपि हिंदुस्तान में कई सज्जन डॉक्टर हैं, परंतु स्त्रियां इस कार्य-व्यवसाय में नहीं हैं. अन्य देशों की स्त्रियों की तुलना में इस देश की स्त्रियां ज़्यादा संकोची हैं और उनमें से अधिकांश किसी पुरुष को अपनी बीमारी बताने की बजाय चुपचाप बीमारी से मर जाती हैं. अतएव हज़ारों-लाखों स्त्रियों की अकाल मृत्यु / असमय मृत्यु को रोकने के लिए स्त्री चिकित्सकों की आवश्यकता है. अतः मैं अपनी सरकार से अनुरोध करती हूं कि स्त्रियों को मेडिसीन पढ़ने की सुविधाएं उपलब्ध करवाए और जन-साधारण के जीवन की रक्षा करे. भारत में स्त्री-चिकित्सकों की गहरी आवश्यकता अनुभव की जा रही है और यह इस देश की स्त्रियों की शिक्षा में एक बहुत बड़ी कमी है.

इन सभी प्रश्नों के उत्तर अपने देश में, अपने लोगों के सम्मुख रमाबाई की स्थिति और चरित्र का सबूत देने के लिए पर्याप्त हैं. *टाइम्स ऑफ इंडिया* के सौजन्य से यह कहा जा सकता है कि सितंबर, 1882 (देखिए उत्तर 3) को कमीशन के सामने स्त्री चिकित्सकों के बाबत उनके निवेदन ने उनकी साम्राज्ञी का ध्यान आकर्षित कर लिया और हिंदुस्तान में अप्रत्यक्ष तौर पर एक आंदोलन का जन्म हुआ जो कि अपने नवीनतम *विकास के साथ द नेशनल एसोसिएशन फॉर सप्लाइंग फीमेल मेडिकल एड टू द वूमन ऑफ इंडिया* के रूप में पहचान बना रहा है जिसका प्रचलित नाम 'डफरिन आंदोलन' है जो कि अपने विलक्षण अध्यक्ष के नाम से जाना जाता है जो भारत के वायसराय की पत्नी हैं. रमाबाई ने अनुभव किया भारतीय स्त्रियों के बीच शिक्षा के काम को सफलतापूर्वक चलाए रखना है तो उन्हें ख़ुद को इसके लिए प्रशिक्षण द्वारा योग्य बनाना होगा. तब वह ईश्वर के प्रति चेतस हुईं. उनकी आत्मा ईश्वरीय ज्ञान के लिए बेचैन थी.

वह लिखती हैं --

"मैंने इग्लैंड जाने की एक निरंतर इच्छा को अनुभव किया. मैं इस कार्य को तब तक नहीं कर सकती थी जब तक कि ईश्वर में मेरा विश्वास दृढ़ नहीं हो जाता: समुद्र पार जाना किसी भी हिंदू नारी के लिए बड़ा क़दम है: कोई व्यक्ति अपने सभी व्यक्तियों से लंबे समय के लिए दूर हो जाता है. लेकिन यह आवाज़ मुझे सुनाई दी जैसे इब्राहम को सुनाई दी थी... यह मेरे लिए बहुत आश्चर्यजनक बात थी कि मैं इसकी शुरुआत कैसे कर सकी, मैंने अपने साथियों और प्यारी बच्ची के साथ ख़ुद को ईश्वर के हवाले कर दिया. मैं इब्राहीम की तरह आगे गई और यह भी नहीं जानती थी कि किस ओर जाना है. जब मैं इग्लैंड पहुंची तो विंटेज में सेंटमेरीज होम की बहनों ने मुझे सहृदयता से स्वीकार किया. यहां मैंने ईसाई-धर्म के सत्य को शनै: शनै: सीखा और देखा कि यह एक दर्शन है जो उच्चतर सत्यों की सीख देता है जिसे मैंने अपनी व्यवस्था में नहीं पाया; यह केवल आदेश नहीं देता बल्कि उदाहरण भी देता है. साथ ही यह केवल आदेश व उदाहरण मात्र नहीं देता वरन् उस दैवीय कृपा का विश्वास भी दिलाता है जो हमें उदाहरण को करने से प्राप्त होती है."

अपने सच्चे स्वभाव के चलते रमाबाई ने अपनी धारणाओं पर तत्परता से विचार किया और ईसाई-धर्म को स्वीकार किया तथा वह और उसकी छोटी-सी बेटी ने 29 सितंबर, 1883 को चर्च ऑफ इंग्लैंड में अपना बपस्तिमा करवाया. तब से उसने ख़ुद को शैक्षणिक कामों में लगा दिया. विंटेज में प्रथम वर्ष रमाबाई ने अंग्रेज़ी भाषा को सीखने में लगाया जो कि अब तक उनके लिए अनजान थी. इसके बाद 1884 में वे चेल्टनहम के लेडिज कॉलेज में भर्ती हुईं, जहां उनकी भूमिका संस्कृत की प्रोफेसर के रूप में थी. उनका खाली समय कॉलेज की छात्रा के रूप में गणित, प्राकृतिक विज्ञान और अंग्रेज़ी-साहित्य की पढ़ाई में व्यतीत होता. चेल्टनहम कॉलेज में इसके लिए बेहतर अवसर थे. रमाबाई ने अपने अध्ययन में शीघ्रता से तरक्की की और जब निकट भविष्य में एक संभावित सरकारी शैक्षणिक नियुक्ति उन्हें मिलने की संभावना थी, तभी उन्हें 11 मार्च, 1886 को फिलेडेल्फिया में श्रीमती आनंदीबाई जोशी के मेडिसीन में स्नातक उपाधि प्राप्त करने के समारोह में उपस्थित होने का निमंत्रण प्राप्त हुआ.

"पवित्र भूमि अमेरिका" रमाबाई को लंबे समय से आकर्षित कर रही थी और अपनी रिश्ते की बहन की उपस्थिति और कार्य ने इस आकर्षण को और बढ़ा दिया था. कुछ हफ़्तों के दुखद अनिश्चय के बाद उन्होंने आमंत्रण को स्वीकार किया. इसका एकमात्र कारण यह था कि पढ़ाई में व्यवधान पड़ता. परंतु यह सोच कर कि इस समय अमेरिका की यात्रा करना भारतीय स्त्रियों के हितों के लिए ज़रूरी है, अत: वहां जाना उनका दायित्व है, रमाबाई फरवरी, 1886 को पुन: समुद्र-यात्रा पर निकल पड़ीं. उनके साथ उनकी पांच साल की बेटी मनोरमा थी. अमेरिका में उनका निवास और सार्वजनिक कार्य दैनिक और साप्ताहिक जर्नल्स की ख़बरों में थे. शुरू में रमाबाई ने सोचा कि छोटे से अवकाश के बाद वे इंग्लैंड लौट जाएंगी और अपनी पढ़ाई पूरी करेंगी, लेकिन जैसे ही रमाबाई के अपने व्यक्तिगत निरीक्षण से अमेरिकी संस्थाओं की श्रेष्ठता उजागर हुई; उनकी रुचि बढ़ी और उन्होंने लंबे समय तक रुकने का निर्णय लिया. उन्होंने लिखा, "मैं अमेरिकी स्त्रियों एवं उनके कार्यों से प्रभावित हूं और उनके कार्यों में मेरी रुचि भी है. उनका कार्य एक लक्ष्य लेकर चलता है वह है -- स्त्रियों की बेहतरी. मेरा यह सपना है कि मैं अपने देश की बहनों को अपनी भाषा में यह आश्चर्यजनक कहानी सुनाऊंगी, इस आशा के साथ कि उनके हृदय में भी यह कहानी जागृति लाए और वे भी ऐसा ही कार्य करने को तत्पर हों." जैसे ही रमाबाई अमेरिका के लंबे समय से चली आ रही सार्वजनिक शिक्षा-व्यवस्था के संपर्क में आईं -- जिसमें लड़के-लड़कियां दोनों शामिल थे -- तो उनके मन में यह इच्छा आई कि ऐसे स्कूल की स्थापना करके अपने देश की स्त्रियों को लाभ पहुंचाया जाए, जहां मानसिक शिक्षा के साथ-साथ हुनर की शिक्षा भी दी जाए. साथ ही भारत में उच्च शिक्षा के सरकारी स्कूल-कॉलेजों में कुछ स्त्रियों के लिए उच्च शिक्षा की योजना से संबंधित प्रस्ताव बनने लगे. रमाबाई भारतीय महिलाओं के लिए भारतीय महिलाओं द्वारा स्थापित किए जाने वाले विद्यालयों की स्थापना पर ध्यान केंद्रित करने लगीं. फिलेडेल्फिया के अपने प्रारंभिक प्रवास के समय वह मिस अन्ना हालवैल से मिलीं जो शहर के सब प्राइमरी स्कूल सोसाइटी (फ्री किंडरगार्डेंस) के साथ प्रमुखता से जुड़ी थीं. इस विलक्षण महिला ने रमाबाई को अपने साथ ले जा कर अनेक किंडरगार्डेन दिखाए साथ ही उन सिद्धांतों

एवं तरीकों को बताया जिस पर यह सारी व्यवस्था आधारित थी. रमाबाई का उत्साह तब दुगुना हो गया जब उन्होंने फोरबेल शिक्षण-पद्धति में अपनी सभी विधवाओं के लिए अपार संभावनाएं देखीं. बिना देरी किए उन्होंने स्वीकृत पाठ्यपुस्तकें ख़रीदीं और साथियों से प्राप्त उपहारों को लेकर ख़ुद ही उन खेलों और व्यवस्था के संकेतों को भारतीय विचारों में अनुवाद करना शुरू कर दिया ताकि इन्हें स्त्रियों की आवश्यकतानुसार बनाया जा सके. सितंबर, 1886 को रमाबाई ने स्वयं को किंडरगार्डेन प्रशिक्षण विद्यालय में छात्रा की भांति नामांकित करवाया. अपने सार्वजनिक दायित्व की ज़रूरत को ध्यान में रखकर वे मनोयोग से पूरे वर्ष पढ़ती रहीं. रमाबाई के लिए अमेरिकी किताबों में दिए गए उदाहरण, उनकी छपाई और मुद्रित पेपर की उच्च गुणवत्ता आश्चर्य पैदा करने वाली थी. जुलाई, 1886 में रमाबाई ने अमेरिकी विचार को मराठी में ढालते हुए मराठी में ही लड़कियों की स्कूल की किताबों की शृंखला लिखने में ख़ुद को लगा दिया, प्राथमिक से शुरू होकर कक्षा 6 तक के विद्यार्थियों के लिए उन्होंने किताबें तैयार कीं. अमेरिकी चित्रों के उदाहरण के साथ छपवाने के परिणामों को लेकर रमाबाई काफी उत्साहित थीं, यद्यपि छपाई मुंबई पहुंचने तक स्थगित की जानी थी, क्योंकि मराठी टाइप अमेरिका में अनुपलब्ध था. जब सारा काम निपट गया तो ख़र्च की बात आने पर उन्हें अपनी किताब के लिए उन आकर्षक तस्वीरों को शामिल करने के विचार को त्यागना पड़ा.

ऊंची जाति की ब्राह्मण महिला, वनों की साहसी, सुशिक्षित सुसभ्य, ईसाई-धर्म की स्वतंत्रता में आनंदित बेटी, हिंदुओं की भांति शाकाहार करने वाली और हिंदू विधवा की पोशाक को विशिष्टता के साथ धारण करने वाली पंडिता रमाबाई ने ख़ुद को भारतीय स्त्री के उत्थान के लिए समर्पित कर दिया. रमाबाई की तैयार की स्कूली-किताबें छपने के लिए तैयार थीं, स्कूल के संगठन -- जैसा कि इस पुस्तक में वर्णित है -- के लिए योजना अच्छे तरीके से बनाई गई और दो अध्यापिकाएं तैयार थीं (दोनों अमेरिकी महिलाएं. एक किंडरगार्डेन स्नातक थीं.) तत्काल अपने और अध्यापिकाओं के लिए भारत के टिकट लिए. आनंदीबाई जोशी की असमय मृत्यु की तीव्र प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप रमाबाई -- जो कि बहिष्कृत थीं -- अपने लोगों के बीच अनुकूल समय में बाल-विधवाओं के बीच कार्य शुरू करने जा रही थीं.

लेकिन धन की आवश्यकता थी. 1793 में एशिया जाने वाले प्रथम मिशनरी विलियम कैरी जब भारत के लिए जहाज़ से रवाना हो रहे थे तब उन्होंने अपने बारे में कहा, "मैं एक गहरी खान में जा रहा हूं लेकिन याद रखना *आप सभी को रस्सी पकड़े रखनी है.*" अब मैं इस अध्याय की समाप्ति की ओर हूं मेरे मन में यह लालसा है कि अमेरिका की महिलाओं में ऐसी पर्याप्त महिलाएं हैं जो रमाबाई के लिए उसके हौसले को जगाए रखने के लिए तैयार होंगी और रमाबाई के अपने ईश्वर प्रेरितकार्य को शीघ्र करने में हर प्रकार की सहायता करेंगी. यह कुछ सैकड़ों या हज़ारों का अनियमित दान नहीं होगा बल्कि स्थिर रूप से निरंतर रक़म देनी होगी कम-से-कम दस वर्ष के समय के लिए. ताकि वह अंधविश्वास और जातिप्रथा में डूबी हुई स्त्रियों को अंधेरे से प्रकाश में लाने के लिए सतत् प्रयासरत हो, जिसमें रास्ते पर सिर्फ कांटे-ही-कांटे हैं.

कई दशकों पूर्व किसी भी अमेरिकी महिला ने नहीं सोचा होगा कि उसे अमेरिका की स्त्रियों एवं युवा लड़कियों से किसी परियोजना -- जैसी रमाबाई की है -- में शामिल होने की अपील करनी पड़ेगी. लेकिन पिछले दिनों में हमने कितनी उन्नति की है. हम उपदेशों / प्रवचनों में पढ़ते हैं कि "एक दिन दुनिया में सब ठीक-ठाक हो जाएगा और "एक राष्ट्र का जन्म होगा" एक अन्य विश्वसनीय वाक्य लिखा जाता है "जब लोगों के हाथों में सत्ता आएगी तब स्त्रियां बराबरी पर आएंगीं." उस महान हिंदू-राष्ट्र में नया जीवन उभर रहा है, स्त्रियां अवनति से ऊपर उठ रही हैं और ख़ुद कह रही हैं -- 'सहायता करो वरना हम ख़त्म हो जाएंगी' यह सामान्य-सी बात है कि और भी कई जगहों पर औरतें इंतज़ार कर रही होंगी कि ईश्वर की तरफ़ से कोई आएगा और उन्हें बचाएगा.

प्रत्येक समुदाय में प्रारंभ से ही ऐसी स्त्रियां रही हैं जो मिशनरी समाज से सहमत नहीं रही हों अथवा पूरब की औरतों को सहानुभूति की दृष्टि से न देखा हो, लेकिन रमाबाई का बाल-विधवाओं के लिए खोला गया आवासीय विद्यालय -- जो कि एक शैक्षिक परियोजना है -- को सहायता देते हुए डरना नहीं चाहिए, क्योंकि इसे सहायता देते हुए भी मिशनरी सोसायटी अपने तरीके से अपना काम कर सकती हैं.

सार्वजनिक व निजी तौर पर पंडिता रमाबाई इस बात की गवाह हैं कि

मिशनरी की महिला अध्यापिकाओं ने पूर्व में अच्छा कार्य किया है साथ ही रमाबाई की हार्दिक इच्छा है कि इन चर्च संस्थाओं के कार्यों और वित्त के बारे में किसी भी प्रकार का, फिर चाहे सत्ता किसी के भी पास हो -- प्रतिकूल प्रभाव न पड़े. रमाबाई हिंदू स्त्रियों के बीच हिंदू के रूप में जाना चाहती हैं और उन्हें धार्मिक विश्वासों के भीतर स्वतंत्रता और छूट देना चाहती हैं. उन्होंने बाइबल पढ़ने और ईसाई-धर्म का अध्ययन करने की कोई शर्त नहीं रखी है, लेकिन उसने यह व्यवस्था की है कि वह पठनीय पुस्तकों के रूप में विद्यार्थियों की पहुंच में होंगी, विद्यालय की लाइब्रेरी की दराजों में *बाइबल* और *पूरब के पवित्र ग्रंथ* और अन्य किताबें साथ-साथ रखी होगी और सभी ईश्वर की ओर आशाभरी निगाह से देखेंगे. यह एक कच्चा अनुमान लगाया गया है कि रमाबाई को अपने पहले विद्यालय के काम को शुरू करने के लिए 15000 डॉलर और उसके बाद 5000 डॉलर प्रतिवर्ष 10 वर्षों तक की आवश्यकता होगी इसके लिए वह सहायता मांग रही हैं. अत: योजना बनाना आसान है उसे लागू करना कठिन है. रमाबाई ने राशि जुटाने के उचित तरीके सुझाए हैं, इसी कड़ी में यह पुस्तक आपके सामने प्रस्तुत है. यह व्यक्तिश: छापी गई है ताकि सारा लाभ रमाबाई को प्राप्त हो सके; व्यापक बिक्री की संभावना के साथ कॉपीराइट किया गया है और इलेक्ट्रॉनिक प्रिंटिंग की गई है. अत: यदि कोई अमेरिकी महिला जो विगत 12 महीनों में किसी भी समय रमाबाई से मिली हो, प्रत्येक कॉलेज विद्यार्थी जिसने पंडिता रमाबाई को कॉलेज हाल में भाषण देते सुना है, इस पुस्तक का प्रत्येक पाठक जिसका हृदय इसके दुखपूर्ण पृष्ठों को पढ़कर संवेदना से भर गया हो, वह इसके लिए आश्वस्त हो कि इस पुस्तक की तत्काल एक कॉपी ख़रीदेगा और अपने मित्रों को भी ऐसा करने की सलाह देगा. हर पाठक एक कॉपी की बिक्री का ज़िम्मा ले. रमाबाई ने अपना काम कर दिया है. भारत जाने के लिए तीन टिकट का पूर्व भुगतान करने, विद्यालयी कमरों में लगने वाले चित्र ख़रीदने, विद्यालयी किताबों में चित्रों को छापने व अन्य छपाई-कार्यों के लिए तथा भारत में आवश्यक विद्यालयी संपत्ति निश्चित करने के लिए काफी ज़्यादा धन की आवश्कता है.

रमाबाई देश लौटने से पहले मुझसे विदा लेने आईं. मैंने पूछा कि इस किताब के पाठकों के लिए कोई अंतिम संदेश है? उसने प्रफुल्लित चेहरे

और तत्परता से जवाब दिया कि उनसे कहिए कि मेरी सहायता करें ताकि मैं ऊंची जाति की बाल-विधवाओं को शिक्षित कर नरक जैसी ज़िंदगी से मुक्त करने में समर्थ हो सकूं. मेरा विश्वास है कि स्त्रियों का यह घृणित और उपेक्षित समझे जाना वाला वर्ग ईश्वर की दया से शिक्षित और जागरुक होकर भारत का उद्धार करेगा.

--आर.एल.बी.

(रैचेल एल. बॉडले, ए. एम. एम. डी.)

डीन, महिला मेडिकल महाविद्यालय, पेन्सिल्वेनिया

1400 नार्थ 21 सितंबर, फिलेडेल्फिया

1 जून, 1887

हिंदू-स्त्री का जीवन

अध्याय : 1

प्रारंभिक टिप्पणियां

एक हिंदू स्त्री के जीवन को समझने के लिए किसी भी विदेशी पाठक के लिए आवश्यक है कि वह हिंदुस्तान की सामाजिक मान्यताओं एवं धर्म के बारे में थोड़ा-बहुत जाने. हिंदुस्तान की जनसंख्या 25 करोड़ के लगभग है, जिनमें हिंदू, मुस्लिम, यूरेशियन, यूरोपियन तथा यहूदी शामिल हैं. इस वृहद जनसंख्या का 3 / 5 भाग तथाकथित हिंदू-धर्म या इसके किसी-न-किसी रूप को मानने वालों में से है. इनके बीच धार्मिक रिवाज़ तथा व्यवस्थाएं आवश्यक रूप से समान हैं. सामाजिक रिवाज़ देश के विभिन्न हिस्सों में कुछ-कुछ भिन्न हैं, लेकिन सभी में एक सुस्पष्ट समानता मूल में प्रतीत होती है, जो इन्हें एक बनाए रखती है.

हिंदुओं का धर्म इतना जटिल व विस्तृत विषय है कि कुछ पन्नों में समेट पाना मुश्किल है तथापि इसे संक्षेप रूप में निम्न प्रकार से बताया जा सकता है: सभी हिंदू, वेदों तथा अन्य प्रक्षिप्त (बाद में जोड़े गए अंश) / अप्रामाणिक ग्रंथों को प्रामाणिक धर्म-ग्रंथ की भांति स्वीकार करते हैं. वे एक परम सत्ता, परमात्मा में विश्वास करते हैं, जो कि शुद्ध, भावों से परे, सर्वव्यापी, पवित्र एवं निराकार है. लेकिन जब यह माया के प्रभाव में आती है तो रूप ग्रहण कर स्त्री-पुरुष बनती है तथा अपने तत्त्व से ही इस ब्रह्मांड की हर वस्तु का निर्माण करती है. अत: एक हिंदू नदियों, पहाड़ों, आत्माओं, प्राणियों आदि की पूजा को पाप नहीं समझता, बल्कि मानता है कि इन सभी का ईश्वर से एकत्व है तथा उसी समान भाव की अभिव्यक्ति है. इन विभिन्न अभिव्यक्तियों में से किसी एक को पुरुष द्वारा अपनी इच्छानुसार भक्ति का आधार चुना जा सकता है; वह अपने मनपसंद ईश्वर को ब्रह्मांड का सर्वोच्च शासक मानता है तथा अन्य देवता उसके दास होते हैं.

हिंदू आत्मा की अमरता में विश्वास रखते हैं, क्योंकि इसका ईश्वर

के साथ एकत्व है. मनुष्य अपने कार्यों के अनुसार ही या तो पुरस्कृत होता है या दंड पाता है. अपने कार्यों के लाभ को प्राप्त करने के लिए अस्तित्त्व की विभिन्न व्याख्याओं से होकर गुज़रता है. अंतत: जब वह कर्म के बंधन से मुक्त होता है और ऐसा वह उस परम सत्ता को जानकर ही कर सकता है; तब वह उस सत्ता में विलीन हो जाता है -- ठीक उसी प्रकार जैसे नदी सागर में विलीन हो जाती है.

इस मत के अनुसार, ब्राह्मण बनने के लिए 84 लाख बार जन्म लेना पड़ता है तथा ब्राह्मण ही है, जो कि जाति के सोपानों में सबसे ऊपर है तथा परमात्मा में विलीन हो सकता है. अन्य योनियों में जन्म लेने पर भी यदि परमात्मा का ज्ञान हो जाए, तब भी परमात्मा से एकाकार संभव नहीं. अत: अन्य जातियों के प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह तय किए गए मानदंड को न लांघे अन्यथा उसे 84 लाख बार पुन: जन्म लेना होगा. एक ब्राह्मण को उस परम ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयास करना चाहिए, क्योंकि पृथ्वी पर उसके अस्तित्त्व की लंबी श्रृंखला की विपत्ति से मुक्ति पाने का यह अंतिम अवसर है. फिर भी सामाजिक और धार्मिक नियमों का ज़रा-सा भी उल्लंघन उसे जन्म व मृत्यु के वृत्त में घूमते रहने को मजबूर कर देगा.

जातिगत विश्वासों के साथ कुछ मुख्य धर्मसूत्र हैं. कुछ शास्त्र-विरोधी / असनातनी हिंदू भी हैं. जो इन सब को अस्वीकार करते हैं; वे अपने विश्वासों में पूरे आस्तिक हैं तथापि मूर्ति-पूजा व अन्य टोटकों की निंदा करते हैं. ब्राह्मो, जैसाकि वे कहलाते हैं -- राष्ट्रीय धर्म को शुद्ध करके ज़्यादा अच्छा काम कर रहे हैं.

जहां तक सामाजिक रिवाज़ों की बात है, यह कहा जा सकता है कि भारत में लोगों का दैनिक जीवन एवं आदतें धर्म से अत्यधिक प्रभावित हैं. एक भी ऐसा काम नहीं है जो उनकी धार्मिकता को प्रदर्शित न करे, एक हास्य-लेखक ने कहा -- जो कुछ हद तक सत्य भी है कि हिंदू पाप भी धार्मिक तरीके से ही करते हैं. चाहे सवेरे बिस्तर से उठना हो, दांत साफ़ करने हों, हाथ साफ़ करने हों, नहाना हो, वस्त्र पहनना हो, आग या लैंप जलाना हो, खाना-पीना हो और इस तरह के अनेक काम तयशुदा ढंग से मंत्रोच्चार के साथ या गहरे मौन के साथ क्रियान्वित किए जाते हैं. हर रिवाज़

जब इतना पुराना हो जाता है कि उसे 'पूर्वजों की पद्धति या पूर्वजों के द्वारा काम करने की पद्धति' की पदवी दे दी जाती है तो यह धर्म का रूप ग्रहण कर लेता है और कड़ाई से इसके अनुसार चला जाता है. अधिकांशत: परंपराओं से स्थापित ये रिवाज़ आचार-संहिताओं से पूर्णतया स्वतंत्र होते हैं. इस सीमा तक स्वतंत्र होते हैं कि एक व्यक्ति को दंड दिया या उसका बहिष्कार किया जा सकता है -- यदि वह रिवाज़ों द्वारा निषिद्ध कार्यों को करता है. यद्यपि धर्म इसकी अनुमति देता हो.

> उदाहरणस्वरूप, निम्न जाति के व्यक्तियों द्वारा बनाया भोजन खाना पवित्र कानूनों द्वारा निषिद्ध नहीं किया गया, परंतु रिवाज़ों द्वारा ऐसा अनुमोदन किया गया है (देखें, *आपस्तम्ब*, ।।, 2,3.1,4.)*

तथापि प्राचीनता का सम्मान प्राप्त कर चुके रिवाज़ आज भी उन पुराने नियमों को नज़रंदाज़ करते हैं तथा कहते हैं कि निम्न जाति के किसी सदस्य का छुआ पानी व भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए. जो हिंदू इस नियम का उल्लंघन करते हैं, वे अपनी जाति से तत्काल च्युत हो जाते हैं तथा जाति को पुन: प्राप्त करने हेतु कठोर प्रायश्चित से गुज़रना पड़ता है.

नि:संदेह, जाति श्रम-विभाजन से आरंभ हुई थी. आर्य-हिंदुओं का प्रतिभावान व क्षमतावान हिस्सा बाकियों के लिए शासक-जैसा स्वरूप लिए हुए था. अपनी बुद्धिमत्ता के अनुसार उन्होंने समाज के विभाजन की अनिवार्यता को देखा तथा बाद में प्रत्येक भाग को अलग कर निश्चित कर्त्तव्यों की ज़िम्मेदारी दी, जिससे राष्ट्र के कल्याण में अभिवृद्धि हो सकेगी. पौराहित्य (ब्राह्मण जाति) को समाज के प्रमुख के रूप में माना गया तथा उन्हें सबके ऊपर आध्यात्मिक शासक के रूप में मान्यता दी गई. बलवान व लड़ाकू हिस्से (क्षत्रिय जाति) को पौरोहित्य के सहयोग एवं शारीरिक बल के द्वारा देश की रक्षा व देश के भीतर अपराध व अन्याय का दमन करने का भार सौंपा गया. उन्हें न्याय के संचालन के लिए भी अस्थाई शासक का काम

---

* 'प्रथम तीन जातियों के पुरुष ही ब्राह्मण या अन्य ऊंची जाति के लिए भोजन बना सकते हैं अथवा शूद्र इन जातियों में से किसी पुरुष के निर्देशन में खाना बना सकता है. (आपस्तम्ब, ।।, 2, 3.1, 4)

करना था. व्यापार व व्यवसाय को पसंद करने वाले व्यापारी और कामगार (वैश्य जाति) भी पूर्व की जातियों द्वारा निश्चित महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे. चौथी या दास जाति (शूद्र जाति) उन लोगों से मिलकर बनती थी, जो पूर्व की तीन जातियों में नहीं आ सकते थे. प्राचीन समय में लोगों का स्थान इन चारों जातियों में उनकी वैयक्तिक क्षमता एवं योग्यता से नियत होता था न कि उनके जन्म से. अर्थात् जातियों में प्रवेश जन्म पर आधारित नहीं था.

बाद में, जब जाति हिंदू विश्वास का एक रूढ़ अंग बन गई तो इसे अनिवार्य हिस्से के रूप में माना गया, जो अब भारत में सब जगह उपस्थित है. एक ब्राह्मण का बेटा सभी जातियों के प्रमुख की भांति सम्मानित होता है, इसलिए नहीं कि वह योग्य है, अपितु इस कारण कि उसने ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया है. अंतर्जातीय-विवाह एक समय विधिमान्य थे. यहां तक कि उत्तराधिकार को स्वीकार करने के बाद भी -- विधि यह बताती थी कि ऊंची जाति की स्त्री निम्न जाति के पुरुष से विवाह नहीं कर सकती थी, लेकिन अब रिवाज़ (Custom) क़ानूनों (Law) को अस्वीकार कर रहे हैं. अंतर्जातीय विवाह बिना गंभीर परिणामों के तथा बिना अपराधी को बहिष्कृत किए नहीं हो सकते हैं.

चार प्रमुख जातियां (*आपस्तम्ब* 1,1,1,3,4 व *मनु* 10, 4)* पुनः गोत्रों में बंटी हुई थीं; पुरुष जो ऊंचे गोत्र से संबंध रखते हैं, अपने से निम्न गोत्र में अपनी बेटी की शादी नहीं करते हैं. इस रिवाज़ के अतिक्रमण का फल पारिवारिक प्रतिष्ठा, जातिगत विशेषाधिकारों, यहां तक कि संबंधियों के सहयोग से वंचित होना है.

चार जातियों एवं उनके गोत्रों के अलावा भी अनेक जातियां हैं जिन्हें संयुक्त रूप से 'मिश्रित जातियां' कहते हैं, जो पूर्वोक्त चारों जातियों के अंतर्विवाह से बनी हैं. इन जातियों की संख्या इनके जातिगत रोज़गार के अनुसार और बढ़ जाती है, जैसे -- नकलनवीस, चमार, मोची, दर्जी

---

* ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र -- ये चार जातियां हैं. इनमें से हरेक पहले आने वाली जाति दूसरी से जन्म से ही ऊपर है. (आपस्तम्ब, !,1,1,3,4.)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण 'द्विजाति' या 'द्विज' हैं और चौथा एक वर्ण शूद्र है; पांचवां (वर्ण कोई भी) नहीं है.' (मनु X,4)

आदि. यहां तक कि बहिष्कृत ज़ातियों, उदाहरणस्वरूप -- झाड़ू लगाने वाले -- के स्वयं के भीतर भी अपने भेद हैं जो ऊंची जातियों के समान ही मज़बूत हैं. जाति-नियमों का अतिक्रमण -- ऊंची से नीची की ओर -- बहिष्करण एवं कठोर दंड का विषय है. अंतर्विवाह के अपराधी या मत-परिवर्तन करने वालों को मुक्ति नहीं मिलती है. यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि अगर ब्राह्मण नीची जाति के किसी सदस्य से शादी करने की नीचता करता है या उनमें से किसी के साथ खाता-पीता है तो वह बहिष्कृत के समान घृणित समझा जाता है तथा उससे बचा जाता है. यह प्रतिक्रिया न केवल ऊंची जाति के लोगों द्वारा होती है, अपितु नीची जाति के लोगों द्वारा भी होती है जिनसे यह ऐसा संबंध रखते हैं.[1] निम्न जाति के लोग इस ब्राह्मण को अवैध नीच की भांति देखते हैं. यह रिवाज़ हर परंपरावादी हिंदू के मन में इतनी गहराई तक पैठ बना चुका है कि वह अपने से ऊंची जाति के सदस्य द्वारा प्रदर्शित किए गए असम्मान को नकारात्मक ढ़ंग में नहीं लेता, क्योंकि वह इसमें धर्म का अनुसरण देखता है. हालांकि जाति स्वीकारतः सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है. लेकिन अब यह संपूर्ण भारत में हिंदू मत का सर्वप्रथम नियम बन गई है. बुद्ध, नानक, चैतन्य और अन्य विचारवान लोगों ने इस अत्याचारपूर्ण रिवाज़ के विरुद्ध विद्रोह किया तथा सभी व्यक्तियों की सामाजिक समता के सिद्धांत की उद्घोषणा की. लेकिन 'जाति' उनके लिए कठिन साबित हुई. आज उनके शिष्य अन्य रूढ़िवादी हिंदू की तरह ही एक जाति का रूप धारण कर चुके हैं. यहां तक कि मुस्लिम भी इस रोग से नहीं बच सके थे, वे भी अनेक जातियों में विभक्त हो गए और उतनी ही कठोरता के साथ जितने कि हिंदू थे. लाखों से ज़्यादा हिंदू रोमन कैथोलिक चर्च के सदस्य के रूप में ईसाई बने, कमोबेश वे भी जाति से ही शासित हैं. उसी प्रकार प्रोटेस्टेंट मिशनरीज ने भी उनमें धर्म-परिवर्तन कर आए लोगों में जाति की भावना को जीतने को कठिन पाया तथा मद्रास प्रेसिडेंसी में कुछ समय पूर्व तक फादर जब lord supper बनाते थे, तब प्रत्येक अलग जाति

1 रमाबाई अपने व्यक्तिगत अनुभवों से प्रामाणिक रूप से कह रही थीं, इनकी ग़ैर-ब्राह्मण से शादी हुई थी, जिसका वर्णन 'द टेस्टीमनी' में 'शूद्र जाति से संबंधित' की तरह किया गया है. उस समय रमाबाई का अपना कोई परिवार नहीं था, लेकिन दंपति पूर्व पति के परिवार द्वारा अपमानित किए गए.

के लिए अलग कप का प्रयोग करने के लिए मजबूर थे.

हिंदू श्रद्धालु के लिए वेद अमर, ईश्वर के स्वयंसिद्ध शब्द हैं -- जो ईश्वर द्वारा अनेक ऋषियों को प्रकट हुए. वेदों के अतिरिक्त 25 से ज़्यादा ऐसे पवित्र ग्रंथ हैं, जिन्हें विभिन्न लेखकों ने विभिन्न समयों में या तो लिखा या संपादित किया तथा जिस पर हिंदुओं के प्रमुख रिवाज़ और धार्मिक संस्थाएं आधारित हैं. इनके मध्य मनु की आचार-संहिता का स्थान सर्वोच्च है तथा इसे पवित्र माना जाता है साथ ही वेदों के बाद दूसरा नंबर इसे ही दिया जाता है.

यद्यपि मनु व अन्य विधिदाता विभिन्न मुद्दों पर गहरी भिन्नता रखते हैं, परंतु स्त्रियों से संबंधित बातों पर इनमें सहमति है. इस पवित्र नियम के अनुसार स्त्री का जीवन तीन भागों में विभाजित है : पहला -- बचपन; दूसरा -- युवावस्था या विवाहित जीवन; तीसरा -- वैधव्य या बुढ़ापा.

नोट : इस पूरी पुस्तक में उद्धृत धार्मिक पाठों को 'सेक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट' (संपादित : मैक्समूलर, क्लेरेडॉन प्रेस, ऑक्सफोर्ड) से अनूदित रूप में लिया गया है.

अध्याय : 2

बचपन

यद्यपि मनु-संहिता में एक जगह 'पुत्री को पुत्र के बराबर' (*मनु*, IX, 130) मानने की बात की गई है लेकिन संदर्भ स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि समानता उन परिणामों पर आधारित है, जो कि पुत्र द्वारा प्राप्य हैं. अत: यह श्लोक, प्राचीन संहिताएं पुरुष की श्रेष्ठता को स्थापित करती हैं, इस अवधारणा के अपवाद के रूप में नहीं बताया जा सकता है. सभी आशीर्वादों में पुत्र-प्राप्ति सर्वाधिक लालचपूर्ण है जिसके लिए हिंदू लालायित रहते हैं; ऐसा इसलिए है, क्योंकि परिवार में पुत्र का जन्म पिता को मुक्ति दिलाता है.

> पिता पुत्र से स्वर्ग आदि उत्तम लोकों को प्राप्त करता है, पौत्र से उन लोकों में अनंतकाल तक निवास करता है और प्रपौत्रों से सूर्यलोक को प्राप्त करता है. (*मनु*, IX, 137)
>
> स्वर्ग में संतानोत्पत्ति से रहित पुरुष के लिए कोई स्थान नहीं है. (*वैशिष्ठ्य*, XVII,2)
>
> अगर पुरुष पुत्रहीन है तो यह वांछनीय है कि उसके पुत्री होनी चाहिए ताकि पुत्री का *पुत्र (नाती)* नाना के लिए पुत्र की ज़िम्मेदारी निभा सके.

पश्चिमी व दक्षिणी भारत में जब भी कोई लड़की या नारी अग्रजों और पुजारियों को प्रणाम करती है तो वे उन्हें इन शब्दों में आशीष देते हैं -- 'भगवान करे तुम्हारे आठ पुत्र हों, भगवान करे तुम्हारा सुहाग बना रहे.' आशीर्वाद के रूप में भी ईश्वरत्व कभी भी पौत्रियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है. पिता शायद ही कभी पुत्री प्राप्ति की इच्छा करते हैं, क्योंकि पुत्रियों को पराया धन माना जाता है; इसके अलावा वे बुढ़ापे में मां-बाप के किसी काम नहीं आतीं. यद्यपि नस्ल को लगातार बनाए रखने के लिए अनिवार्य है कि संसार में लड़कियां जन्म लें, फिर भी यह वांछनीय है कि उनकी संख्या लड़कों की संख्या से ज़्यादा कभी न होने पाए. यदि

दुर्भाग्य से एक स्त्री के साथ ऐसा हो कि सभी संतान पुत्रियां हों, एक भी पुत्र न हो तो मनु ऐसी स्त्री के पति को यह अधिकार देता है कि वह अपनी शादी के ग्यारहवें वर्ष में अन्य स्त्री से संबंध बना ले.*

अन्य किसी देश में माताएं संतानोत्पत्ति के दृष्टिकोण को लेकर इतनी दुश्चिंतित एवं पालन-पोषण को लेकर इतना भार महसूस नहीं करती होंगी; जितना वह भारत में महसूस करती हैं. अधिकांश मामलों में अपने पति को जीतने की आशा सिर्फ़ पुत्रों को पैदा करने पर निर्भर होती है.

स्त्रियां चाहे वह अमीर परिवार की हों या ग़रीब परिवार की, लगभग सभी को आवश्यक रूप से इस घटना का शिकार होना पड़ता है. अनेक कारुणिक एवं हृदयविदारक घटनाएं दुखी महिलाओं के मुंह से सुनी जा सकती हैं, जिन्होंने अपने पति के स्नेह को इसलिए खो दिया कि या तो उनके केवल पुत्रियां हुई थीं या वे नि:संतान थीं. मैं उस दुखद दृश्य को कभी नहीं भुला पाऊंगी, जो मैंने बचपन में देखा था. लगभग 13 साल की उम्र में मैं अपनी मां व बहन के साथ एक शाही जनानखाने में गई, जहां उन्हें मिलने के लिए निमंत्रण दिया गया था. राजकुमार की चार पत्नियां थीं, जिसमें से तीन नि:संतान थीं. सबसे बड़ी पत्नी के ईश्वर की कृपा से दो लड़के थे, जो निश्चित रूप से उसके पति के प्रिय थे. उस पत्नी का चेहरा ख़ुशियों से चमक रहा था.

हमें नर्सरी व शाही शयन-कक्ष दिखाने ले जाया गया, जहां शांति व संतुष्टि के प्रतीक प्रकट हो रहे थे. लेकिन इस चकाचौंध के उलट एक दूसरी स्थिति नि:संतान पत्नियों के कक्षों में प्रकट हो रही थी. उनके चेहरे दुखी एवं चिंताग्रस्त थे, इस संसार में उनके लिए आशा की कोई किरण प्रकट नहीं हो रही थी, क्योंकि उनके पति उनसे दुर्भाग्य को लेकर अप्रसन्न थे.

कलकत्ता में मेरी एक महिला मित्र ने मुझे बताया कि उसके पति ने उसे चेतावनी दी कि वह पहली बार किसी लड़की को जन्म न दे अन्यथा वह उसका चेहरा कभी नहीं देखेगा. लेकिन इस पत्नी और पति के लिए ख़ुशी

---

* देखें इस पुस्तक का अध्याय 4 -- 'धर्म व समाज में स्त्रियों का स्थान'.

की बात थी कि लड़की के जन्म से पहले इनके दो लड़के हुए थे. इसी परिवार में एक अन्य स्त्री थी, मेरी मित्र की भाभी, जिसकी पहली संतान लड़की हुई थी. वह अनवरत् लालायित थी कि उसके पुत्र हो ताकि वह अपने पति का स्नेह जीत सके. मैं जब उसके घर गई, तब मैंने देखा कि वह मुझसे उम्मीद किए हुए थी कि मैं यह कहूं कि उसके इस बार पुत्र हो. बेचारी औरत! उसे उसके पति द्वारा यह बता दिया गया है कि अगर उसे पुत्रियां ही होती रहीं तो अन्य औरत उसका स्थान ले लेगी; उसे पहनने के लिए साधारण कपड़े और खाने के लिए अल्प भोजन मिलेगा. कोई गहने नहीं मिलेंगे सिर्फ़ उनको छोड़कर जो पति के अस्तित्त्व को दर्शाने के लिए आवश्यक हैं. उसे सारे घरेलू नीरस काम करने होंगे. पुत्री के साथ दुर्भाग्य का आना माना जाता है इसलिए बेचारी अंधविश्वास से ग्रस्त माताएं इस विपदा को टालने के लिए गर्भस्थ शिशु को बेटे में बदलने के लिए अनेक प्रयास करती हैं, अगर वह शिशु बेटी हो तो.

इन उपायों में पुत्रों की माताओं के द्वारा उपयोग की गई मनका-माला को अभिमंत्रित कर उपयोग में लाने से लेकर नाना जड़ी-बूटियों को खाना, पेड़ों तथा पुत्र प्रदान करने वाले देवों की भक्ति-भाव से पूजा करना शामिल है. एक अनोखा उत्सव जिसे 'संस्कार' की पदवी से नवाज़ा जाता है उसमें गर्भवती मां जिसे तीन महीने का गर्भ धारण हो चुका है, उसके भ्रूण को लड़के में बदलने के उद्देश्य से गर्भवती स्त्री के लिए कर्मकांड किए जाते हैं.

इन सभी सावधानियों के बावजूद लड़कियों का हिंदू घर में जन्म लेना अपशकुन माना जाता है. एक या अधिक पुत्रों के जन्म के पश्चात, पुत्री के जन्म का अनादर नहीं होता तथा इन परिस्थितियों में मां प्राय: एक-दो पुत्रों के बाद लड़की के लिए लालायित रहती है. माता-पिता पुत्री के जन्म के बाद उस पर स्नेह व सहृदयता की वर्षा करते हैं, लेकिन यह स्नेह भी निर्दयी रिवाज़ों द्वारा संस्कारित व निर्धारित होता है. बावजूद इसके माता-पिता में यह प्यार मज़बूती से बना रहता है. प्रमुखतया यह मामला हिंदू *माताओं* के साथ है. ख़ासकर मातृत्व प्रेम जिसके आगे नर या मादा का कोई भेद नहीं होता, हिंदू घरों में प्राय: पाया जाता है, जो कि स्वार्थ और लोकप्रिय रिवाज़ के झूठे डर को धता बताता है. एक मां अपने पति की नाख़ुशी का मुक़ाबला करके अपनी सारी ख़ुशियों का त्याग कर देती है तथा अपनी बेटी को सबसे

बड़ा ख़जाना मानती है. एक स्त्री में इस तरह का वीरत्व प्रशंसनीय है और किसी भी देश को इस पर गर्व होना चाहिए. लेकिन अफ़सोस! इसका दूसरा पहलू भी जग ज़ाहिर है, इसे चुपचाप नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता.

भ्रांत धारणाओं एवं निर्दयी रिवाज़ों से ग्रस्त घर में एक शिशु के इस संसार में आने की परिघटना से बेचारी मां ये जानकर दुखी होती है कि वह छोटी-सी अजनबी लड़की है और पड़ोसी अपनी नफ़रत व गुस्सा नाक-भौं सिकोड़कर अभिव्यक्त करते हैं. निर्दोष आनंद से उसके आस-पास जो कुछ भी हो रहा है, उससे कम-से-कम उस समय तक अनजान है. मां -- जिसने अपने पति व रिश्तेदारों का स्नेह लड़की को जन्म देने के कारण खो दिया है -- हो सकता है कि वह बदले में शिशु की ज़रूरतों के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करे. ऐसी मां के होते हुए वह बच्ची अपने दुख को जल्द ही *अनुभव* करने लग जाती है, यद्यपि वह यह नहीं जानती कि कैसे और क्यों उसे इस निर्दयी अन्याय को झेलने का कारण बनना पड़ रहा है.

अगर एक लड़की अपने भाई की मृत्यु के बाद जन्म लेती है या उसके जन्म लेने के तुरंत बाद परिवार में कोई लड़का मर जाता है; इन दोनों में से किसी भी परिस्थिति में वह लड़की उसके माता-पिता एवं पड़ोसियों द्वारा लड़के की मृत्यु के कारण के रूप में देखी जाएगी. वह लड़की निरंतर सभी के द्वारा अप्रिय नामों से पुकारी जाएगी, उसे नगण्य समझा जाएगा, पीटा जाएगा, बुरा-भला कहा जाएगा, सताया जाएगा तथा उसका तिरस्कार किया जाएगा. कहने में यह अजीब लगता है, परंतु कुछ अभिभावक बजाय मन में यह सोचने के कि वह लड़की उनकी सुविधा, प्रेम के लिए बच गई है, अपने खोए हुए प्रिय पुत्र के शोक के स्थिर प्रकटीकरण को इस निर्दोष लड़की के प्रति इन शब्दों में व्यक्त करते हैं -- "दुष्ट लड़की, अरे तू प्यारे लड़के की जगह मर क्यों नहीं गई? जन्म लेते ही तूने उसे हमेशा के लिए इस घर से क्यों निकाल दिया? तू ख़ुद लड़का बनकर क्यों नहीं आई? यह हम सबके लिए अच्छा होता कि तेरा भाई ज़िंदा रह जाता और तू मर जाती."

मैंने ख़ुद अनेक बार इन बातों को माता-पिता द्वारा अपनी बेटियों को कहते सुना है जो कि अपने माता-पिता के चेहरों की ओर दुखपूर्वक एवं आश्चर्य से देखती हैं और यह नहीं समझ पातीं कि क्यों इतनी क्रूर दलीलें

उनके सिर पर थोप दी जाती हैं, जबकि वह अपने भाई को कभी भी चोट नहीं पहुंचातीं. अगर परिवार में कोई लड़का है तो सारे लाड़-प्यार व मीठे बोल, आराम और उपहार, आशीर्वाद और प्रशंसाएं माता-पिता व पड़ोसियों द्वारा उस पर प्रकट किए जाते हैं; यहां तक कि नौकरों द्वारा भी, जो माता-पिता के दुखों में पूरी तरह सहानुभूति जताते हैं. प्रत्येक अवसर पर बेचारी लड़की को यह आभास कराया जाता है कि उसे अपने भाई के सौभाग्य में हिस्सा बांटने का कोई अधिकार नहीं है और यह कि वह परिवार में अनिच्छुक एवं अनामंत्रित मेहमान है.

अधिकांश मामलों में भाई अपने श्रेष्ठ होने पर गर्व करते हैं. वे अपने बारे में और बहन के बारे में जो सुनते हैं उससे अधिक नहीं सोच पाते हैं. इस आधार पर वह ख़ुद भी लड़कियों व स्त्रियों को तिरस्कृत करना शुरू कर देते हैं. एक छोटा लड़का भी अपनी बहन को यह कहते हुए अक़सर देखा जाता है कि यह मत भूलो कि तुम लड़की हो और *वह लड़का* है. साथ-ही-साथ उसे हिदायत भी देता है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं. इस अमानवीयता का शिकार होने के कारण अधिकांश लड़कियां उदास, अस्वस्थ और मूढ़ बन जाती हैं. फिर भी कुछ उग्र स्वभाव की होती हैं, जो क्रोध में जलती हैं तथा उनका यह क्रोध बचकानी वाक्पटुता में फूट पड़ता है. वह अपने भाईयों तथा चचेरे भाई-बहनों को कहती हैं कि जल्द ही उनकी शादी होने वाली है तथा वे जाने वाली हैं तथा उन्हें (भाईयों को) देखने वह फिर कभी नहीं आएंगी. अगर भाई बुलाने के लिए प्रार्थना करेंगे तब भी नहीं. तथापि बच्चे ग़लतियों को भूल जाते हैं, हंसते हैं, चिल्लाते हैं, आज़ादी से दौड़ते-भागते हैं तथा सामान्यत: शादी भी करते हैं, जब अरुचिकर व्याख्यान उन पर नहीं थोपे जाते हैं. अल्पशिक्षित तथा अशिक्षित इन लड़कियों को कुछ प्रार्थनाओं और लोकप्रिय गीतों के सिवाय और कुछ भी अपने दिमाग़ में रखने का अवसर नहीं मिलता. छोटी लड़कियां अपने हाल पर छोड़ दी जाती हैं, जैसे खेलो, जिस तरह खेलो. छ: या सात साल की उम्र में वे अपनी मां का घरेलू कामों में हाथ बंटाने लगती हैं या अपने से छोटे बच्चों का ध्यान रखने लगती हैं.

मैं विवाह के संदर्भ में आधुनिक जाति-व्यवस्था की दृढ़ता को पहले ही स्पष्ट कर चुकी हूं. इसलिए बुद्धिमान पाठक पहले ही अनुमान लगा

चुके होंगे कि इस तरह की दृढ़ता परिवार में लड़कियों के प्रति दिखलाई जाने वाली बेरूखी का कारण है. लड़की के जन्म के साथ ही माता-पिता उसके भविष्य की दुश्चिंता तथा पुत्री के प्रति अपनी ज़िम्मेदारियों को लेकर पीड़ा अनुभव करने लगते हैं. सभी हिंदू उत्सवों एवं अवसरों में शादी सबसे अधिक ख़र्चीला है. ऊंची जातियों में अमूमन शादियां कम-से-कम 600 रुपए ज़रूर ख़र्च करवाती है. भारत में ग़रीबी इतनी है कि अनेक पिता यह ख़र्चा उठाने में समर्थ नहीं हैं. अगर परिवार में दो या दो से अधिक बेटियां हैं तो उस परिवार की बर्बादी अवश्यंभावी है. साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि हिंदू समाज में घर को चलाने वाले को न केवल अपनी पत्नी व बच्चों का पेट भरना पड़ता है, अपितु उसके माता-पिता, काम में असमर्थ भाईयों (चाहे अज्ञानता के कारण चाहे आलस्य के कारण) उनके परिवारों; क़रीबी विधवा परिजनों के लिए आश्रय की ज़िम्मेदारी इस एक व्यक्ति पर होती है. इसके अलावा पारिवारिक पुरोहित, धार्मिक भिखारी एवं अन्य लोग भी जो उससे कुछ अधिक प्राप्ति की आशा करते हैं. इस प्रकार अनेक लड़कियों का पिता होना वास्तव में दयनीय है. धर्म आदेश देता है कि प्रत्येक लड़की की शादी होनी ज़रूरी है; पिता के द्वारा इस कर्त्तव्य की उपेक्षा करने का अर्थ है कि पिता को अक्षम्य पाप लगेगा, जग में हंसी का पात्र बनेगा व जाति से बहिष्कृत होगा. लेकिन केवल यही पर्याप्त नहीं है. एक ख़ास उम्र में लड़की की शादी हो जानी चाहिए. लड़की के होने वाले पति की जाति समान होनी चाहिए, गोत्र या तो समान या श्रेष्ठ होना चाहिए, लेकिन लड़की के पिता के गोत्र से *कभी भी निम्न नहीं* होना चाहिए.

पूर्वी भारत के ब्राह्मण अपनी ग़रीबी के बावजूद कई सौ वर्षों से गोत्र संबंधी भ्रांत धारणाओं को सफलतापूर्वक निभाते आ रहे हैं. वे ऐसा बहुविवाह के रिवाज़ का फायदा उठाकर कर चुके हैं. ऊंचे गोत्र का ब्राह्मण 10, 11, 20, 150 लड़कियों तक से शादी करेगा. वह इसे व्यवसाय बनाता है. वह लड़कियों से शादी के लिए ऊंचे प्रदेशों से नीचे प्रदेशों में जाता है. लड़कियों के माता-पिता से उपहार प्राप्त करता है, उसके तुरंत बाद दुल्हन को अलविदा कह देता है और फिर वापस लौटकर न आने के लिए अपने घर चला जाता है. इस तरह के ब्राह्मण को अनेक पत्नियों की देखभाल के लिए स्वयं को झंझट में डालने की आवश्यकता नहीं है. अभिभावक अपने आपको

प्रतिज्ञाबद्ध मानते हैं कि उन्हें बेटी की सारी ज़िंदगी की व्यवस्था करनी होगी. अगर वह उनके साथ रहती है तो अंत तक विवाहित कुंवारी बनी रहती है. इस प्रकार की शादी के मामलों में, पिता को अपने साधनों से ज़्यादा राशि व्यय करने की आवश्यकता नहीं होती और न ही अपनी बेटी का समर्थन करना उसके लिए कठिन होता है. लड़की परिवार के लिए भोजन पकाती है तथा अन्य घरेलू कार्यों में हाथ बंटाती है. इसके अलावा पिता को दोहरी संतुष्टि रहती है, पहली -- उसने अपनी बेटी का विवाह करा दिया, जिससे वह बदनामी और समाज की हंसी से बचकर निकल गया, दूसरी -- और उसकी बेटी का पति ऊंचे गोत्र का ब्राह्मण है. अत: उसने अपने लिए स्वर्ग में स्थान बना लिया है.

लेकिन इस प्रकार के बहुविवाह का अस्तित्त्व क्षत्रियों में नहीं है, क्योंकि ग़ैर-ब्राह्मण जाति के सदस्य होने के नाते एक व्यक्ति को धर्म द्वारा यह अनुमति नहीं है कि वह अपने मित्रों को छोड़कर अन्य लोगों से उपहार प्राप्त करे या उसकी विनती करे. अत: वह अनेक पत्नियों या अनेक पुत्रियों का समर्थन नहीं कर सकता. जाति एवं गोत्र की भ्रांत धारणाओं ने उत्तरी, उत्तरी-पूर्व तथा मध्य भारत के क्षत्रिय जाति से संबंध रखने वाले राजपूतों को आतंकित किया है. यह इस सीमा तक प्रभावशाली है कि इन्होंने अपने समाज में बालिका शिशु हत्या के अधार्मिक एवं अमानवीय रिवाज़ को बनाया और निभा रहे हैं. यह क्रूर काम स्वयं पिताओं द्वारा किया जाता है और बच्ची की मां भी अपने पति -- जिसके *हर आदेश* का पालन करने के लिए वह बाध्य है -- के कहने पर बालिका शिशु की हत्या करती है.

राजपूतों में सर्वत्र यह रिवाज़ पाया जाता है कि उनके पड़ोसी एवं मित्र संतान के जन्म लेने पर उसके पिता को बधाई देने एकत्रित होते हैं. अगर लड़का जन्म लेता है तो उसके जन्म की सूचना संगीत, ख़ुशी के गानों तथा मिठाई बांटकर की जाती है. अगर लड़की ने जन्म लिया तो पिता शांत स्वर में घोषणा करता है कि उनके परिवार में किसी का जन्म 'नहीं' हुआ है. इस हाव-भाव संवाद से यह समझ लिया जाता है कि संतान लड़की है तथा वह इस संसार में *'कुछ नहीं'* के बराबर है. सारे मित्र दुखी होकर शांति से घर चले जाते हैं.

ग़ौरतलब है कि यह तय कर लेने के बाद कि कितनी लड़कियों को

ज़िंदा रहना चाहिए; पिता को पुत्री के जन्म या अन्य पुत्रियों की हत्या के बाद मारने वाले पिता की रक्षा जाति और गोत्र का यह अत्याचारी रिवाज़ करता है, जो इन हत्याओं को वैसे ही पूरा करता है जैसे किसी मच्छर या अन्य परेशान करने वाले कीड़े को समाप्त करना. उस शिशु को कौन बचा सकता है, जिसके अभिभावक ही उसे मारने पर तुले हों और उचित अवसर की ताक में हों? रोते हुए बच्चे को चुप कराने के लिए साधारणतया अफ़ीम प्रयुक्त होती है. इसकी छोटी-सी गोली इस निर्दय हत्या के कार्य को पूरा करने के लिए पर्याप्त है; गर्दन पर कौशलपूर्वक दबाव जो कि 'गले पर नाख़ून रखने' से जाना जाता है. इस उद्देश्य प्राप्ति के अन्य तरीके हैं. इस प्रकार अनेक अज्ञात तरीके हैं, जो जाति और गोत्र व्यवस्था की अपवित्र बलिवेदी पर निर्दोषों की बलि चढ़ाने में प्रयुक्त होते हैं. कुछ ऐसे शिशु चोर ही नहीं हैं, जो लड़कियों को चुराते हैं अपितु जंगली जानवर भी इतने बुद्धिमान हैं तथा इनका स्वाद इतना शुद्ध है कि वे ब्रिटिश क़ानून का उपहास करते हैं तथा अपनी भूख को शांत करने के लिए प्राय: लड़कियों को ही चुराते हैं. बालिका शिशु हत्या, अधार्मिक है और सचेत लोगों द्वारा इसे अच्छा नहीं माना गया है. इसके बावजूद यह भारत के इन क्षेत्रों में प्रचलित है तथा इसे चुपचाप होने दिया जाता है.

1802 के प्रारंभ में ब्रिटिश सरकार ने इस भयानक अपराध का दमन करने हेतु अधिनियम बनाया. 40 वर्ष पूर्व मेजर लुडलाऊ, एक सहृदय अंग्रेज़ व्यक्ति ने अर्द्धस्वतंत्र प्रदेशों को इस रिवाज़ को प्रतिबंधित करने हेतु प्रेरित किया, जिसे हिंदू राजाओं ने माना और एक पारस्परिक सहमति बनाई कि पुत्री के पिता पर कोई भी व्यक्ति उसके सामर्थ्य से अधिक दहेज देने का दबाव नहीं डालेगा तथा शादी के उत्सव पर फ़िजूलख़र्ची को हतोत्साहित किया गया. लेकिन जाति और गोत्र की भ्रांत धारणाओं को इतनी आसानी से नहीं जीता जा सकता था.

व्यापक ख़र्च तो क़ानून द्वारा रोके जा सकते हैं, परंतु मन में गहरे तक जमे विश्वासों और कई सौ वर्षों से धार्मिक रूप से चली आ रही इन मान्यताओं को बाहरी क़ानूनों से कभी नहीं हटाया जा सकता है.

1870 की जनगणना से एक अनोखा तथ्य उभरकर आया कि एक वर्ष में 300 शिशु जो कि लड़कियां थीं, अंग्रेज़ सरकार की नाक के नीचे से

भेड़ियों द्वारा अमृतसर से चुरा ली गईं. 1868 में एक अंग्रेज़ अधिकारी मि. होबार्ट ने प्रतिबंधित क़ानून को लागू करने से पहले भारत के उन क्षेत्रों का दौरा किया, जहां बालिका-शिशु हत्याएं सबसे ज़्यादा की जाती थीं. सावधानीपूर्वक किए गए अध्ययन के परिणामस्वरूप वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यह भयानक कृत्य गुप्त रूप से प्रचलित है तथा ख़तरे की सीमा तक इसका विस्तार हो चुका है.

1880-81 के जनगणना आंकड़े दिखाते हैं कि भारत में पुरुषों की अपेक्षा महिलाएं संख्या में 50 लाख से कम थीं. लिंगानुपात के इस आश्चर्यजनक अंतर को लाने वाले अनेक कारणों में से प्रमुख कारण देश के विभिन्न निश्चित भागों में बालिका-शिशु हत्या के अतिरिक्त -- हिंदुस्तान के सभी क्षेत्रों में महिलाओं की बीमारियों का अपूर्ण उपचार साथ ही उचित स्वास्थ्यवर्धक देखभाल एवं चिकित्सीय परिचर्या की कमी थी.

अध्याय : 3

वैवाहिक जीवन

हिंदू लड़की का बचपन कब ख़त्म होता है और वैवाहिक जीवन कब प्रारंभ होता है, इसे आसानी से निर्धारित नहीं किया जा सकता. प्राचीन विवाह-व्यवस्था -- यद्यपि मेरे देश की सर्वाधिक पुरानी व्यवस्था नहीं है -- 500 ईसा पूर्व की है. मनु के अनुसार, एक ऊंची जाति की लड़की के लिए विवाह की न्यूनतम आयु 8 वर्ष तथा अधिकतम आयु 12 वर्ष बताई है. (*मनु* IX, 94)* विवाह में पुत्री को देने का कर्म पहले एक महान पुण्य जैसा था, जिसके द्वारा माता-पिता स्वर्ग का बड़ा पुरस्कार प्राप्त करने के अधिकारी हो जाते थे. तथापि इसके अपवाद भी रहे हैं. संहिताओं में आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन मिलता है. एक प्रकार वह है, जो प्रेमियों के बीच मात्र समझौता होता है कि वे एक-दूसरे के प्रति ईमानदार रहेंगे, इस प्रकार के विवाह में कोई धार्मिक उत्सव नहीं होते. यहां तक कि समझौते व रिश्ते की सहमति और गवाही के लिए तृतीय पक्ष की भी आवश्यकता नहीं होती. इन सबके बावजूद नियम के आधार पर यह अन्य शादियों की तरह ही पूर्णत: वैध मानी जाती है. इस तथ्य से सुस्पष्ट है कि सभी लड़कियों का 8 से 12 वर्ष की उम्र में संबंध नहीं हो जाता था तथा यह भी कि हिंदुओं के लिए विवाह की धार्मिक क्रिया-विधि को अनिवार्य नहीं माना जाता था. सभी जातियां व वर्ग उपरोक्त प्रकार का विवाह कर सकते थे. यदि उन्होंने शादी करने के लिए इसे चुना है तो शादी के इस प्रकार के साथ जो सर्वाधिक ध्यान देने योग्य तथ्य जुड़ा है वह यह है कि स्त्री व पुरुष दोनों अपने भविष्य के पति पत्नी को चुनने के लिए स्वतंत्र थे. यूरोप एवं अमेरिका में स्त्रियां अपने पति स्वयं चुनती हैं, परंतु स्त्री के लिए यह लज्जाजनक है कि पहले

---

* '30 वर्ष का पुरुष 12 वर्ष की कन्या से शादी करे जो उसे ख़ुश कर सके या 24 वर्ष का पुरुष 8 वर्ष की कन्या से विवाह करे.' (*मनु* IX, 94)

वह शादी के लिए आग्रह करे. स्त्री व पुरुष को समान रूप से इस अप्रत्याशित घटना से सदमा पहुंचेगा. लेकिन भारत में कम-से-कम इस संदर्भ में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर स्वतंत्रता थी. एक स्त्री बिना शर्मसार हुए और बिना दूसरे को सदमा दिए आगे आकर अपना पति चुन सकती थी. *स्वयंवर* सातवीं सदी के अंत तक सामान्य था. आज भी कुछ लोग इस रिवाज़ को निभाते हैं, यद्यपि ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है.

मैं बांबे प्रेसीडेंसी में एक महिला को जानती हूं, जिसने एक ब्राह्मण से इसी रीति से शादी की. उस आदमी की पहली पत्नी अभी ज़िंदा है. दूसरी पत्नी अन्य जाति की है. वह आदमी खुलेआम इस विवाहिता की धार्मिक स्तर पर घोषणा नहीं करता था. वह अपनी इस विवाहिता को बिना किसी धार्मिक क्रिया-कर्म से गुज़रे हुए अपनी पत्नी बना सकता था. 12वीं सदी से मुस्लिम घुसपैठियों के क़ायदे रहित व्यवहार का भारत में बाल-विवाह का सार्वभौमीकरण करने में बड़ा हाथ रहा. बहुत बड़ी संख्या में लड़कियों को उसी दिन विवाह में दे दिया जाता था, जब वे अपने पालने में होती थीं. पूरे भारत में ब्राह्मणों के मध्य 5 से 11 वर्ष के बीच की उम्र विवाह के लिए उचित उम्र मानी जाती है. यह सोचना बेतुका है कि लड़कियों को अपने शैशवकाल में अपने भावी पति को चुनने की अनुमति होनी चाहिए, यह काम उनके माता-पिता एवं परिजनों द्वारा किया जाता है. देश के उत्तरी भाग में पारिवारिक नाई को शादी के लिए लड़का या लड़की चुनने के लिए मुक़र्रर किया जाता है. यह बहुत ही अपमानजनक होता है तथा उस प्रक्रिया को बताता है, जिसमें माता-पिता एवं परिजनों के स्थान पर नाई को लड़के-लड़कियों के लिए उनके भविष्य के बहू-दामाद ढूंढ़ने के लिए जाना पड़ता है.

यद्यपि मनु ने स्पष्टत: कहा कि एक युवा पुरुष के लिए 24 वर्ष विवाह योग्य आयु है, लेकिन प्रचलित रिवाज़ इस नियम की अवज्ञा कर रहे हैं. 10 और 12 वर्ष के लड़कों को 7-8 साल की लड़कियों के साथ शादी करने का निर्णय सुनाया जाता है. एक संपन्न घर का लड़का सामान्यत: 17-18 वर्ष की उम्र के बाद अविवाहित नहीं रहता है. ऊंची जाति के ग़रीब किंतु सम्माननीय परिवार उनके लड़कों की इतनी जल्दी शादी करने में समर्थ नहीं होते हैं, लेकिन एक पुरुष का 20 या 25 वर्ष की उम्र के बाद अविवाहित

रहना लज्जाजनक माना जाता है. लड़के और लड़कियों की प्रथम विवाह के समय अपने सहभागी को चुनने में कोई भूमिका नहीं होती है, लेकिन एक पुरुष की पहली पत्नी के मरने के पश्चात् वह दूसरा विवाह करता है तो इस संदर्भ में *उसे* चुनने का अवसर मिलता है.

यद्यपि प्राचीन विधिदाताओं ने सोचा कि यह उचित है कि जवानी की दहलीज़ पर क़दम रखने के पहले ही लड़की की शादी कर दी जाए तथा परिणामस्वरूप उनके अपने पति चुनने के अधिकार की उपेक्षा की. फिर भी वे पूर्णत: मानवीय भावनाओं से रिक्त नहीं थे. उन्होंने माता-पिता एवं परिजनों को लड़की को तब तक देना निषिद्ध किया है जब तक कि कोई उचित विवाहार्थी उनको न मिले.

> कुल तथा आचार में श्रेष्ठ, सुंदर व योग्य वर मिल जाए तो (पिता या अन्य अभिभावक आदि) कन्या की आयु विवाह योग्य न होने पर अर्थात् 'दक्ष' के वचनानुसार 8 वर्ष से कम आयु रहने पर भी उस कन्या को उस वर के लिए ब्रह्म विधि से दान करें (विवाह करे). (*मनु* IX, 88)
>
> ऋतुमती कन्या भी जीवनपर्यंत पिता के घर में भले ही रह जाए, (किंतु पिता आदि अभिभावक) इसे गुणहीन वर को कदापि न दें. (*मनु* IX, 89).

लेकिन अफ़सोस! यहां भी नियम (Law) क्रूर रिवाज़ों से परिभाषित है. यह रिवाज़ कुछ पुरुषों को अविवाहित रहने की अनुमति देता है, परंतु यह उस कुमारी और उसके परिवार के लिए दुखद है, जिसे अपनी विवाह योग्य उम्र के बाद भी, दुर्भाग्य से अकेला जीवन व्यतीत करना पड़े. यद्यपि कोई नियम ऐसा नहीं कहता -- जो कि प्रचलित रिवाज़ है -- कि स्त्री विवाह के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती है. तब यह आश्चर्यजनक नहीं है कि जब बेटियां 8-9 साल से अधिक की हो जाती हैं और विवाह के लिए कोई रिश्ता नहीं मिलता है तो माता-पिता अत्यंत चिंताकुल हो उठते हैं.

ग़रीब परिवारों -- चाहे वह ऊंची जाति के ही क्यों न हों -- की बेटियों से शादी करने का प्रस्ताव बहुत कम लड़के करते हैं. विश्व के अन्य देशों के समान भारत में भी धन का अपना अलग आकर्षण है, लेकिन यह शक्तिशाली संपत्ति भी जातिगत नियमों के समकक्ष कुछ नहीं है. एक ऊंची जाति का पुरुष किसी निम्न जाति के पुरुष -- चाहे वह लखपति हो -- के

साथ अपनी बेटी की शादी करने की भद्रता नहीं दिखाएगा.

लेकिन धन अपनी जाति में पढ़ाई, सुंदरता और सम्मान के गुणों को मात देता है; सामान्यत: माता-पिता संपन्न परिवारों के लड़कों को अपना दामाद बनाने के लिए ढूंढ़ते हैं. चूंकि लड़के कच्ची उम्र के होते हैं, इसलिए अच्छे गुणों मसलन ज्ञान, कॉमन सेंस, परिवार को संभालने की योग्यता, एक सम्मानित चरित्र आदि लड़कों में नहीं खोजे जा सकते हैं. अत: अधिकांशत: माता-पिता एक ऐसे परिवार में अपनी बेटी को सुरक्षित देखना चाहते हैं जहां कम-से-कम उन्हें खाने और पहनने को प्रचुर मात्रा में मिल सके. बेशक माता-पिता अपनी बेटी को अपने पति के साथ ख़ुश देखने की इच्छा रखते हैं, लेकिन उनके अंतिम निर्णय में इस बात का उतना महत्त्व नहीं होता है. जहां तक हो सके, वे (माता-पिता) रिवाज़ों को पूरा करते हैं. इस प्रकार संसार में अच्छा नाम सुरक्षित रखते हैं तथा भविष्य में स्वर्ग की आशा रखते हैं. इन सबके बीच उनका दिमाग़ कभी भी लड़कियों के भाग्य को लेकर ज़्यादा परेशान नहीं होता है. अगर लड़का एक संपन्न या मध्य वर्ग का है तो उसे तथा उसके परिवार को विवाह निश्चित करने के लिए लड़की के पिता द्वारा एक अच्छी रक़म दी जाएगी. इसके अलावा, लड़की के परिवार को इस छोटे भगवान के साथ बड़ी विनम्रता के साथ चलना होगा, क्योंकि इसमें भगवान विष्णु का निवास माना जाता है. ग़रीब माता-पिता को यह लाभ नहीं मिल पाता है कि वे अपनी पुत्रियों की शादी संपन्न परिवारों में कर सकें, क्योंकि उन्हें तो बेटी की शादी *करनी ही* है. परिणाम यह होता है कि अक़्सर 8-9 साल की लड़की को 60-70 साल के बूढ़े के साथ ब्याह दिया जाता है या फिर ऐसे व्यक्ति के साथ, जो नवयौवना के लिए किसी काम का नहीं है.

वे माता-पिता जो सुंदर एवं समृद्ध आदमी को अपना दामाद बनाने की क्षमता रखते हैं, वे दोनों पक्षों की जन्म-कुंडलियों की पूछताछ में ज़्यादा ध्यान देते हैं ताकि अपनी पुत्रियों के भविष्य के बारे में निश्चिंत हो सकें. ख़ासकर लड़की के विधवा होने की चिंता सबसे बड़ी चिंता होती है. अगर पुत्री की जन्मपत्री बताती है कि उसका भावी पति उसे बचा लेगा तो मिलन अत्यंत संतोषजनक माना जाता है. मगर इसके उलट होने पर लड़की की जन्मपत्री के समतुल्य जन्मपत्री वाला लड़का ढूंढा जाता है, क्योंकि यह

विश्वास किया जाता है कि ऐसे मामलों में मूल ग्रह एक-दूसरे से संघर्ष करते हैं और अंततः जैसाकि सामान्यतः होता ही है कि मज़बूत अर्थात् पति का ग्रह ही जीतेगा या दोनों पक्षों में संघर्ष शुरू हो जाएगा तथा पति व पत्नी दोनों एक साथ मर जाएंगे. मेरे एक मित्र ने मुझे बताया कि उसकी बहन के ग्रहों के साथ जो जन्मपत्री संतोषजनक रूप से मिली उससे पहले 300 जन्मपत्रियां निरस्त की जा चुकी थीं. निस्संदेह, अनेक विवाहार्थी जो इन छोटी कन्याओं के लिए अच्छे पति बन सकते थे, जन्मपत्री के कारण निरस्त कर दिए जाते हैं तथा अयोग्य आदमी उनके भाग्य में पड़ जाते हैं. इस प्रकार जन्मपत्री आशीर्वाद के स्थान पर अभिशाप बन जाती है.

इसलिए यह सामान्य-सी बात है कि एक ग़रीब बाप ऐसी परिस्थिति में अपनी लड़की की शादी बिना विवाहार्थी के चरित्र व सामाजिक स्तर की जांच-पड़ताल के ही कर देता है. लड़के द्वारा अपनी जाति, गोत्र एवं घर की स्थिति के बारे में बताना तथा इसे लड़की के पिता द्वारा सुना जाना ही पर्याप्त होता है. मैं एक ऐसी असामान्य शादी के बारे में जानती हूं, जो निम्नलिखित तरीके से पूरी हुई :[2] एक पिता अपने परिवार, जिसमें उसकी पत्नी एवं दो पुत्रियां -- एक नौ साल तथा दूसरी सात साल की थी, के साथ तीर्थाटन पर था. वे एक कस्बे में एक-दो दिन विश्राम हेतु रुके. एक सुबह पिता कस्बे के निकट पवित्र नदी गोदावरी में स्नान कर रहे थे, तभी उन्होंने एक आकर्षक पुरुष को वहीं स्नान हेतु आते देखा. स्नान व प्रातःकालीन प्रार्थना की समाप्ति के पश्चात पिता ने उस अजनबी से पूछताछ की -- वह कौन था? कहां से आया था? उसकी जाति, गोत्र, निवास-स्थान आदि के बारे में पूछा. अजनबी ने बताया कि वह विधुर है. पिता ने उससे अपनी नौ वर्ष की लड़की से विवाह करने का प्रस्ताव रखा. यह सभी बातें एक घंटे या उससे कुछ अधिक समय में निश्चित हो गईं. अगले दिन विवाह संपन्न हो गया तथा वह छोटी लड़की उस अजनबी के स्वामित्व में रख दी गई, जो उस लड़की के घर से 900 मील दूर था. पिता ने शादी के अगले दिन बेटी के बिना स्थान छोड़ दिया तथा शांत हृदय से अपनी तीर्थयात्रा जारी रखी. सौभाग्य से वह छोटी लड़की अच्छे हाथों में गई थी तथा उम्मीद से ज़्यादा

2. यह घटना रमाबाई के अपने माता-पिता की शादी का वर्णन है.

स्नेह पा रही थी, परंतु उसके पिता -- जिसने कि अपनी बेटी के भाग्य को निश्चित करने की ओर बहुत कम ध्यान दिया -- के व्यवहार को निस्संदेह निंदनीय कहा जा सकता है.

जैसे ही विवाह उत्सव की समाप्ति की घड़ियां नज़दीक आती हैं, हिंदू मां का अपनी बेटी के प्रति स्नेह कोई सीमा नहीं देखता, वह उसे अनेक तरीकों से प्रसन्न करती है, मां जानती है कि कुछ ही दिनों में उसकी प्यारी बेटी उसकी प्यारी गोद से दूर ले जाई जाएगी. जब वह अपनी बेटी की भावी सास से एक रिवाज़ी मुलाक़ात करने जाती है तो अनेक अश्रुपूर्ण अनुनय एवं मर्मस्पर्शी याचना करती है कि भावी सास उस छोटी-सी अजनबी के प्रति दयालु और धैर्यशील रहे, जैसेकि वह अजनबी लड़की उसकी अपनी बेटी हो. लड़के की मां -- जिसका भी एक स्त्री-हृदय है -- वहां से हट जाती है और वायदा करती है कि वह उस छोटी-सी बहू की मां बनने का प्रयास करेगी. विवाह के लिए निश्चित दिन माता-पिता अपनी पुत्री को लड़के को सौंपते हैं. इसके पश्चात लड़का-लड़की पुजारी के द्वारा विवाह-बंधन में बांधे जाते हैं. पुजारी इस बीच पवित्र पाठ को पढ़ता व उच्चारित करता है तथा मित्रों, परिजनों एवं पवित्र अग्नि की उपस्थिति में उन्हें एक-दूसरे का पति-पत्नी घोषित करता है (इस प्रकार विवाह समाप्त होता है. उसके बाद से यह बंधन अटूट हो जाता है.)

> बेचने या त्याग करने से स्त्री अपने पति के स्त्रीत्व से मुक्त नहीं होती, पहले ब्रह्मा के बनाए हुए ऐसे धर्म को हम जानते हैं. (*मनु* IX, 46)

ऊंची जाति की स्त्री के लिए विवाह वेद-पाठ के उच्चारण के साथ किया जाने वाला एकमात्र संस्कार है. यह धारणा है कि यह पाठ उस व्यक्ति के सम्मान में बोले जा रहे हैं जिससे स्त्री शादी कर रही है. बिना पवित्र सिद्धांतों के कोई भी संस्कार स्त्री के लिए नहीं है. अब से लड़की उस व्यक्ति की है, वह (स्त्री) न केवल उसकी संपत्ति है अपितु निकटतम रिश्तेदारों की भी.

> उन्होंने (प्राचीन संतों ने) घोषित किया कि वधू केवल उसके पति की ही नहीं अपितु पति के सारे परिवार को दी जाती है. (*आपस्तम्ब,* II, 10,27,3)

लड़की अब पति के गोत्र से जुड़ जाती है. वह पति के परिवार के नाम से जानी जाती है. भारत के कुछ हिस्सों में पति के परिजन लड़की को उसके

मायके के नाम से पुकारने की अनुमति नहीं देते. अब से वह एक प्रकार की निर्वैयक्तिक वस्तु हो जाती है. (जिसका अपना व्यक्तित्त्व नहीं होता) वह अपना कोई गुण, योग्यता नहीं रख सकती.

> स्त्री जैसे गुणवाले पति के साथ विवाहित होती, वह समुद्र में मिली हुई नदी के समान वैसे ही गुण वाली हो जाती है. (*मनु* IX, 22)

हमारी अनेक लड़कियों से जब मज़ाक में पूछा जाता था कि क्या वे अपनी शादी जल्दी चाहती हैं तो वे निष्कपट भाव से सकारात्मक उत्तर देतीं. वे अपनी बहनों, रिश्तेदारों, सहेलियों को विवाहित देखती हैं. ऐसा अवसर, जो आनंद के साथ लंबे समय तक याद रखा जा सके. यहां तक कि निर्धनतम परिवार भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए विवाह को लुभावना बनाने हेतु अपनी तरफ़ से महत्तम कोशिशें करते हैं. बच्चे इसका सबसे ज़्यादा आनंद उठाते हैं. विवाह में शानदार परिधान, चमकीले रंगीन कपड़े, सुंदर सजावट, संगीत, गाने, पटाखे, खाने व देने के लिए मिठाइयों एवं फलों की प्रचुरता होती है तथा पूरा घर रोशनी से जगमगाता है. इससे अधिक बच्चे के दिमाग़ के लिए और क्या चीज़ आकर्षक हो सकती है? इन सबके साथ कभी-कभी एक बड़ा हाथी लाया जाता है जिस पर अविवाहित बच्चे विवाह के उल्लास के बीच सवारी करते हैं. क्या बच्चों की कल्पना के लिए यह पर्याप्त नहीं है? ओह,.... लड़की सोचती है, मैं भी हाथी पर सवारी करूंगी, वहां इसके अलावा और भी बहुत कुछ होगा, सारे घर के लोग मेरी प्रतीक्षा करेंगे, सभी मुझे प्यार करेंगे, सभी मेरी देखभाल करेंगे और मुझसे प्यार से व्यवहार करेंगे. "वाह! कितना आनंद आएगा."

एक चार साल की लड़की ने कहा, "मैं चाहूंगी कि मैं बीमार हो जाऊं." आश्चर्य से उसकी मां ने पूछा "क्यों बेटी?" उस छोटी बच्ची ने जवाब दिया, "इससे मुझे बिस्तर पर नाश्ता मिलेगा और सबका ध्यान मेरी ओर होगा."

कौन है जिसने इस तरह के वाक्य न सुने हों और उन पर हंसा न हो? बच्चियां बीमार होना चाहती हैं ताकि उनके अस्तित्त्व का अनुभव सबको हो सके. तब क्या आश्चर्य है यदि हिंदू लड़कियां उस आनंद के लिए -- जो कि विशेषाधिकारों की आकांक्षा करता है -- शादी करना पसंद करें. लेकिन बेचारी यह बच्चियां नहीं जानतीं कि इस आनंद के बाद क्या होने वाला है.

जो थोड़ी-बहुत वे कल्पना करती हैं, वह यह कि वे अपनी मां एवं घर के लिए, उल्लास व हंसी-ख़ुशी के लिए, सच्चे सुख से भरपूर ज़िंदगी के लिए विदा की जाएंगी. कभी-कभी अंधविश्वासों के कारण अपने निकटतम परिजनों द्वारा लड़की के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है, तब उसकी शादी की कामना होने लगती है अन्यथा कोई दूसरा कारण हो ही नहीं सकता कि लड़की के मन में यह भावना उठे, सिवाय विवाह के उस आनंद को भोगने के जबकि शादी विवाह के वक़्त वह अपनी बाल्यावस्था से लगभग निकल ही रही होती है.

वास्तव में, हिंदू स्त्री के जीवन का स्वर्णयुग बचपन ही होता है. वह अंदर-बाहर जाने के लिए आज़ाद होती है. जाति या अन्य सामाजिक बंधनों का कोई भार नहीं होता. अध्ययन, सिलाई-बुनाई या मरम्मत की अभी चिंता नहीं रहती है. माता-पिता, भाई-बहनों, चाचा-चाचियों एवं अन्य लोगों से प्यार, दयालुता एव लाड़-दुलार मिलता है. वह उस चार साल के घोड़े के बच्चे से थोड़ी भिन्न होती है, जिसके दिन पूर्णत: आज़ादी में बीतते हैं. तब देखिए, अचानक शादी के बंधन की घोषणा होती है तथा यह जुआ हमेशा के लिए उसकी गर्दन में डाल दिया जाता है.

विवाह-उत्सव की समाप्ति के तुरंत बाद लड़का अपनी पत्नी को घर ले जाता है तथा उसे अपनी मां को सौंप देता है, जो उसी समय से लड़की के अपने पति को सौंपने की उम्र होने तक उस लड़की की एकमात्र स्वामिनी बन जाती है. साथ ही बहू पर अपनी अविवादित सत्ता को संभालती है.

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उत्तरी व दक्षिणी भारत दोनों में 'विवाह' शब्द एक अटूट समझौता हो जाता है. विवाह-उत्सव के दौरान दोनों पक्षों के वैवाहिक, *धार्मिक* संबंध स्थापित होते हैं. एक दूसरा उत्सव भी है, जो रिश्तों को धार्मिक एवं सामाजिक रूप से पुष्ट करता है. यह उत्सव तब तक नहीं होता, जब तक बच्चे वय:संधि को प्राप्त न कर लें. बंगाल में नियम भिन्न है तथा अनेक मामलों में मानवीय व्यवस्था के लिए हानिप्रद सिद्ध हुआ है. बहुत कम मामलों में लड़कियों को उनके माता-पिता के पास कुछ समय रहने देने की अनुमति होती है. उत्तरी भारत में छोटी लड़की इस मामले में थोड़ी भाग्यशाली है कि वह जब तक 13-14 वर्ष की नहीं हो जाती, तब तक अपने पति के घर भेजने का दबाव नहीं होता.

संयुक्त परिवार व्यवस्था जो पूर्वी देशों की विचित्रताओं में से एक है, उसकी जड़ें भारत में गहरे तक जमी हुई हैं. यहां चार पीढ़ियों का एक छत के नीचे रहना कोई असामान्य बात नहीं है. घर दो भागों में विभाजित होता है, लेकिन पुरुषों वाला मकान का आधा भाग तुलनात्मक रूप से अच्छा व ज़्यादा रोशनी वाला होता है. गांवों के मकान भीड़-भाड़ वाले शहरों की तुलना में ज़्यादा बेहतर होते हैं. पुरुष एवं स्त्रियों में कोई समानता नहीं होती.

स्त्रियों वाला घर का भाग घर के पिछवाड़े में होता है, जहां हमेशा अंधेरा बना रहता है. वहां बालिका बहू को हमेशा के लिए सीमित रखा जाता है. वह अपने पति के घर नहीं बल्कि ससुर के घर में प्रवेश करती है. इस तरह सदस्यों के बीच सबसे निचले स्थान पर चली जाती है. नई बहू की उम्र को तोड़ना इस नए आवास के अनुशासन का अनिवार्य भाग है. वह कभी ज़ोर से हंस-बोल नहीं सकती. वह पिता के सामने या उनसे, जेठ से, अपने पति के दूर के पुरुष रिश्तेदार से बात नहीं कर सकती, जब तक कि बात करने की इज़ाजत न दी जाए. उत्तरी भारत में सभी औरतें घूंघट रखती हैं. युवा बहुएं या औरतें घूंघट से अपना मुंह ढंके रहती हैं. जब कभी किसी कमरे में वह होती है और उस कमरे में परिवार के बुजुर्ग स्त्री-पुरुष या अन्य कोई भी आ जाता है तो वह सम्मान प्रदर्शित करने के लिए दूसरे कमरे की ओर दौड़ जाती है. दक्षिणी भारत में रिवाज़ है कि औरतें घूंघट नहीं रखतीं, अपने चेहरे को नहीं ढकतीं. अपने से बड़ों को सम्मान देने के लिए वहीं उठ जाती हैं और तब तक खड़ी रहती हैं जब तक वे लोग (मेहमान) उपस्थित रहते हैं.

सास अपनी बेटियों को घरेलू दायित्वों का ज्ञान देने के लिए घर के सभी कार्यों में लगाती है. 9-10 साल की बच्चियां पूरे दिन के इस काम को कष्टप्रद पाती हैं, साथ ही इस काम को करने के बाद भी उन्हें सास से प्रशंसा का एक भी शब्द सुनने की आशा नहीं रहती है. छोटी लड़की की हर ग़लती पर उसे डांटा जाता है. अगर वह अच्छा काम करती है तो इसे चुपचाप स्वीकार कर लिया जाता है. बड़ों के द्वारा प्रोत्साहन एवं प्रशंसा के शब्द कहना बच्चों को बिगाड़ने एवं अनैतिक बनाने जैसा समझा जाता है. छोटी बच्ची की ग़लतियों को जान-बूझकर किया गया दोष समझा जाता है. उसके बाद अपशब्दों की बौछार उस पर शुरू हो जाती है. इस प्रकार

अपमान व कष्ट को स्वीकार करके वह चुपचाप इस कड़वे घूंट को पीकर ख़ुद को सांत्वना देती है. इस दुखद समय में, वास्तव में, वह अपनी मां और उसकी प्यारी सहानुभूति की कमी को महसूस करती है.

फिर भी मुझे सास के साथ न्याय करना होगा, क्योंकि इनमें से अनेक अपने पुत्रों की बहुओं के साथ अपनी संतान की भांति व्यवहार करती हैं, अनेक दयालु एवं स्नेहपूर्ण, परंतु अशिक्षित होती हैं. वे जल्दी ही अपना आपा खो देती हैं और उनके अनुसार काम न होने पर कठोर हो जाती हैं. अन्य पुन: अपने बचपन में ख़ुद निर्दयी व्यवहार का शिकार होने के कारण कठोरहृदया बन जाती हैं. ऐसी औरत बच्चे के लिए गंदी भाषा का प्रयोग करके, उसे पीटकर और पड़ोसियों के सामने निंदा कर प्रताड़ित करती है. प्राय: सास यह सब अपने-आपसे करने से भी संतुष्ट नहीं होती है और अपने बेटे को इस ओर प्रवृत्त करती है और ऐसा करने के लिए उसका उत्साहवर्द्धन भी करती है. मैंने बहुत बार जवान पत्नियों को अपने जानवर पतियों द्वारा पिटते हुए देखा है, जिनके मन में पत्नियों के लिए कोई प्यार नहीं होता है.

जैसाकि हम देख चुके हैं, विवाह पति-पत्नी की सहमति के बिना होता है तथा इसके बाद दुल्हन को अपने पति से बोलने की या परिचय प्राप्त करने की इजाज़त नहीं होती, जब तक कि दूसरा उत्सव न हो जाए, तब तक नवयुगल को किसी तीसरे पक्ष के समक्ष अपने पारस्परिक संबंध का कोई चिन्ह प्रकट नहीं करना चाहिए. ऐसी परिस्थितियों के अंतर्गत वे कभी-कभी ही बात कर या मिल पाते हैं. इसलिए यह समझने योग्य है कि वे 'लगाव' को उत्पन्न करने के प्रमुख साधनों से अलग होते हैं. प्राय: नवयुगल एक-दूसरे के लिए अजनबी होते हैं. अनेक मामलों में एक-दूसरे के रिश्ते को पसंद नहीं करते हैं. अगर इन सबके बीच में ही सास अपने बेटे को अपनी पत्नी के प्रति अत्याचार करने के लिए प्रोत्साहित करे तो यह आश्चर्य नहीं है कि ईर्ष्या की एक भावना उनके बीच गहराई तक जड़ें जमा लेती हैं. एक 13 साल की नव-वधू अपने पति से निर्दयता के साथ इसलिए पीटी गई क्योंकि उसने यह साधारण-सा सत्य कह दिया कि वह अपने पति के घर को उतना पसंद नहीं करती, जितना अपने मायके के घर को करती है. (या वह अपने घर जैसा अच्छापन महसूस नहीं करती है.)

इन कमियों के बावजूद, यहां भारत में अनेक सुखी व स्नेहिल दंपति हैं, जो किसी भी राष्ट्र के लिए गर्व का विषय हो सकते हैं. जहां दांपत्य-संबंध पारस्परिक प्रेम से पुलकित होता है वहां प्रसन्नचित्त पत्नी का कार्य करने व विचारों की स्वतंत्रता के न होने के अलावा कोई समस्या नहीं होती. लेकिन पत्नियां प्रारंभ से ही कभी नहीं जानती हैं कि स्वतंत्रता क्या है? वे साधारणतया बंधनों में रहकर संतुष्ट महसूस करती हैं.

पुरुष अपने ही साथी पुरुष मित्रों के साथ घर के बाहरी भाग में या घर से बाहर शाम या विश्राम का समय बिताते हैं. बच्चों के पास विकल्प होता है कि अपनी मां या पिता के साथ आनंद उठा सकें. लेकिन जवान माता-पिता के बच्चे अपने पिता से बड़े सदस्यों की उपस्थिति में अपने पिता द्वारा देखभाल या उसके द्वारा किसी प्यार के प्रदर्शन को प्राप्त नहीं कर सकते हैं. शालीनता का यह झूठा विचार जवान पिता को अपने बच्चों से स्वतंत्र बातचीत करने से रोकता है. परिवार की औरतें प्राय: अपने पतियों या घर के पुरुषों के खाना खाने के बाद खाना खाती हैं तथा नियमानुसार, पत्नी वह खाती है, जो उसका पति ख़ुशी से उसकी थाली में पत्नी के लिए छोड़ गया है.

अध्याय : 4

धर्म व समाज में स्त्रियों का स्थान

हिंदू-धर्म कहता है:

> अपना कल्याण चाहने वाले कन्या के पिता, भाई, पति और देवर को चाहिए कि वे सदा नारी का आदर-सत्कार करें तथा वस्त्राभूषणों से उसे अलंकृत करें.
>
> जहां स्त्रियों का सम्मान किया जाता है, वहां देवता प्रसन्न होते हैं, लेकिन जहां उनका आदर-सत्कार नहीं होता, वहां पवित्र अनुष्ठान भी निष्फल होते हैं.
>
> जिस कुल में जामि (स्त्री, पुत्रवधू, बहन, भानजी, कन्या आदि) तक़लीफ़ में जीती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जिस कुल में तक़लीफ़ नहीं काटतीं, वह कुल सदा उन्नति करता है.
>
> (जिस घर को) जामियां अनादर पाकर शाप देती हैं, वह घर सब ओर से नष्ट हो जाता है.
>
> इस कारण उन्नति चाहने वाले मनुष्यों को सत्कार तथा उत्सवों के अवसरों पर इन स्त्रियों का वस्त्र-आभूषण और भोजनादि से विशेष आदर-सत्कार करना चाहिए.
>
> जिस कुल में पत्नी से पति तथा पति से पत्नी संतुष्ट रहते हैं, उस कुल का सर्वदा कल्याण होता है.
>
> यदि स्त्री वस्त्राभूषण आदि से रुचिकर नहीं होती है तो वह पति को आनंदित नहीं करती और वह हर्षित नहीं होने से गर्भाधान में प्रवृत्त नहीं होता है.
>
> वस्त्र-आभूषणादि के द्वारा स्त्री के प्रसन्न रहने पर वह संपूर्ण कुल सुशोभित होता है तथा इसके प्रसन्न नहीं रहने पर वह संपूर्ण कुल मलिन हो जाता है. (*मनु* III, 55 - 62)

ये सभी निर्देश महत्त्वपूर्ण हैं. हमारे आर्य हिंदू एक निश्चित सीमा तक

स्त्रियों का सम्मान करते थे और अभी भी करते हैं. *माता* को दिए गए सम्मान की तुलना किसी देश से नहीं की जा सकती है. यद्यपि स्त्री एक निकृष्ट मानव की भांति देखी जाती है, फिर भी माता प्रमुख होती है. आदरणीया होने के नाते सभी पुत्रों से सम्मान प्राप्त करती है. हिंदू-धर्म-ग्रंथों का एक महत्त्वपूर्ण निर्देश है -- "मां ईश्वर के समान है."*

मां बेटे के घर की महारानी होती है. वह घर पर पूरा नियंत्रण रखती है तथा उसके आदेशों को घर के प्रमुख के आदेशों की भांति मानकर उसके पुत्र और बहुएं उनके अनुसार काम करते हैं. लेकिन इस सिक्के के दूसरे पहलू को भी बिना जांच के नहीं छोड़ा जाना चाहिए. इस पक्ष को मनु के नियमों में देखा जा सकता है, जिन पर, कुछ अपवादों को छोड़कर, प्रत्यक्ष रूप से विश्वास किया जाता है कि नियम बनाने वालों ने स्त्रियों के बारे में क्या कहा:

स्त्रियों का यह स्वभाव है कि वे पुरुषों को इस संसार में पथभ्रष्ट कर देती हैं. अतएव विद्वान पुरुष स्त्रियों के विषय में असावधानी कभी नहीं करते.

---

* मेरे पाठक इन निर्देशों को पढ़ने के उत्सुक हो सकते हैं, ये इस प्रकार हैं :
वेद समाप्ति के बाद गुरु शिष्य से कहता है --
'सत्य बोलो.
अपना कर्म करो.
वेद पढ़ो.
गुरु-दक्षिणा देने के बाद अपने वंश को आगे बढ़ाओ (यानी अविवाहित मत रहो)
सत्य से मुंह मत मोड़ो
कर्त्तव्य से मुंह मत मोड़ो
जो उपयोगी है उसे नज़रंदाज़ मत करो
वेद पठन को नजरंदाज़ मत करो
ईश्वर और अपने पूर्वजों के प्रति कर्त्तव्यों को मत भूलो
मां को ईश्वर के समान मानो
पिता को ईश्वर के समान मानो
गुरु को भी ईश्वर के समान मानो
अतिथियों को ईश्वर की भांति सम्मान दो
जो भी कार्य दोषमुक्त हो उन्हें सम्मान दो अन्यथा नहीं
जो भी अच्छे काम हम करते हैं वो हमारे द्वारा ही अवलोकन किए जाने चाहिए, दूसरों के द्वारा नहीं'
(*तैत्तरीय उपनिषद्*, वली, IXI, 1, 2)

> स्त्रियां काम तथा क्रोध के वशीभूत मूर्ख या विद्वान पुरुष को भी कुमार्ग में प्रवृत्त करने में समर्थ होती हैं. (मनु, II, 213-214)
>
> स्त्रियां पुरुषों के सुंदर रूप की परवाह नहीं करतीं, न ही उनका ध्यान निश्चित उम्र पर होता है, बल्कि 'वह पुरुष है' इसी विचार से सुंदर या कुरूप पुरुष को स्वयं को सौंप देती हैं.
>
> व्यभिचारिता से (पुरुष की कामना करने), चित्त की चंचलता से और स्वभावतः स्नेह का अभाव होने से इस संसार में यत्नपूर्वक सुरक्षित ये स्त्रियां अपने पति के प्रति निष्ठाहीन हो जाती हैं. ब्रह्मा की सृष्टि से ही इनका स्वभाव जानकर पुरुष इनकी रक्षा के लिए विशेष यत्न करें.
>
> शय्या, आसन, आभूषण, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोहभात और दुराचरण -- इनको स्त्रियों के लिए मनु ने सृष्टि के प्रारंभ में बनाया. (यत्नपूर्वक इनसे स्त्रियों को बचना चाहिए) स्त्रियों का जात-कर्मादि संस्कार मंत्रों से नहीं होता. यह धर्मशास्त्र की मर्यादा है; धर्म, प्रमाण श्रुति, स्मृति से हीन और पापनाशक मंत्रों के जप का अधिकार न होने से पापयुक्त स्त्रियां असत्य के समान अपवित्र हैं, यह शास्त्र की मर्यादा है. (*मनु* IX, 14-18)

सभी महिलाओं के संबंध में मनु के ये कुछ मत हैं. सभी पुरुष स्त्रियों के प्रति इन नियमों में कम या ज़्यादा विश्वास रखते हैं. भले ही उनकी अपनी मां ही क्यों न हो वह भी असत्य की भांति अपवित्र है.

(स्त्री स्वभाव को व्यभिचारशील बताकर उसमें प्रमाण कहते हैं) और शास्त्रों में बहुत-सी श्रुतियां, वेदवाक्य व्यभिचार की परीक्षा के लिए पढ़ी गई हैं, उनमें से प्रायश्चित रूप एक श्रुति को सुनें.

> "दूसरे के घर में विचरण करती हुई मेरी माता अपतिव्रता होती हुई परपुरुष के प्रति लोभयुक्त हुई उससे दूषित माता के रजोरूप वीर्य को मेरे पिता शुद्ध करें, यही पादत्रय स्त्री के व्यभिचार का उदाहरण है." (*मनु* IX, 19-20)

ऐसा अविश्वास और सामान्यत: स्त्रियों की प्रकृति एवं चरित्र का इतना निम्न मूल्यांकन ही भारत में स्त्रियों को अलग रखने के रिवाज़ की जड़ है. ऐसे अनिष्टकर रिवाज़ मुस्लिम आक्रमण के साथ ज़्यादा विस्तृत और गहन रूप से अत्याचारपूर्ण हुए हैं, लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि ऐसे रिवाज़ छठवीं सदी से ही अस्तित्त्व में हैं. सभी

पुरुषों को नियम द्वारा आदेश दिया गया कि वे घरेलू स्त्रियों को सभी स्वतंत्रताओं से वंचित कर दें:

> पति आदि आत्मीय जनों को चाहिए कि वे रात-दिन स्त्रियों को अपने अधीन रखें. अनिषिद्ध विषयों में आसक्त होती हुई स्त्रियों को अपने नियंत्रण में करें.
>
> स्त्री की रक्षा बचपन में पिता करता है, युवावस्था में पति करता है और वृद्धावस्था में पुत्र करते हैं; स्त्री स्वतंत्र रहने के योग्य नहीं है. (*मनु* IX, 2-3)
>
> स्त्रियों को दुष्चरित्र प्रवृत्तियों से विशेष रूप से बचना चाहिए, क्योंकि आरक्षित स्त्रियां दोनों कुलों को संतप्त करती हैं.
>
> समस्त वर्णों के इस उत्तम धर्म को देखते हुए दुर्बल पति भी स्त्री की रक्षा करने के लिए यत्न करते हैं. (*मनु* IX, 5-6)
>
> कोई भी बल द्वारा स्त्री की रक्षा नहीं कर सकता, किंतु इन उपायों से स्त्री की रक्षा की जा सकती हैः स्त्री को धन के संग्रह, व्यय, वस्तु और पदार्थों की शुद्धि, पति तथा अग्नि की सेवा, घर तथा बर्तन आदि की सफ़ाई में नियुक्त करें. (*मनु* IX, 10-11)

जो व्यक्ति मूल संस्कृत साहित्य को कठिन परिश्रम व निष्पक्षता से पढ़ते हैं, यह पहचानने में कभी धोखा नहीं खा सकते कि आचार-संहिता निर्माता मनु उन कई सौ लोगों में से एक है, जिसने दुनिया की नज़रों में स्त्रियों को घृणास्पद जीव बनाने में अपना सारा ज़ोर लगा दिया. गृहकार्य में तथा सगोत्रीयता के कामों में लगाकर यह सोचा गया कि स्त्रियों को भटकने से बचाने का यही एकमात्र उपाय है; उसे (साहित्यिक संस्कृति के वरतुल्य) आनंद को भोगने नहीं दिया गया, उसे पवित्र धर्मग्रंथ पढ़ने की मनाही है, उसके किसी भी पाठ को उच्चरित करने का उसे कोई अधिकार भी नहीं है. उसकी अविकसित एवं निम्नस्तरीय इच्छाओं को संतुष्ट करने के लिए आभूषण, कभी-कभी अच्छा खाना और कुछ अवसरों पर सम्मान इत्यादि काफ़ी है. वह राष्ट्र की प्यारी माता, समर्पित पत्नी, सहृदयी बहन, तथा स्नेही पुत्री स्वतंत्रता के लिए कभी उपयुक्त नहीं होती तथा 'अपने आप में असत्य की भांति अपवित्र' होती है. कभी विश्वास की पात्र नहीं होती तथा कभी भी महत्त्वपूर्ण मुद्दे इन्हें नहीं सौंपे जाते.

मैं ईमानदारी व शपथपूर्वक कह सकती हूं कि मैंने कोई भी ऐसी पवित्र संस्कृत की रचना नहीं पढ़ी, जिसमें महिलाओं के प्रति ऐसा घृणाभाव न हो. सच में बस कहीं-कहीं उनके बारे में कुछ अच्छे शब्द कहे गए हैं, लेकिन वे शब्द भी क्रूर व भद्दे मज़ाक के सिवा कुछ नहीं.

लौकिक साहित्य / रचनाएं भी स्त्रियों के प्रति ज़्यादा सम्मानपूर्ण व कम कठोर नहीं हैं. मैं एक लोकाचार (Ethical) संहिता के प्रश्नोत्तर के एक भाग को कुछ कहावतों के साथ उद्धृत करती हूं:

प्रश्न- निर्दय कौन है?
उत्तर- दुष्ट का हृदय.
प्रश्न- इससे भी क्रूर क्या है?
उत्तर- स्त्री का हृदय.
प्रश्न- सबसे क्रूरतम क्या है?
उत्तर- पुत्रहीन, निर्धन विधवा का हृदय.

ऊंची साहित्यिक प्रतिष्ठा रखने वाले एक हिंदू सज्जन ने नैतिक विषय पर एक प्रश्नोत्तरी लिखी है, वे कहते हैं:

प्रश्न- नरक का मुख्य द्वार क्या है?
उत्तर- स्त्री.
प्रश्न- शराब की भांति सम्मोहक कौन है?
उत्तर- स्त्री.
प्रश्न- बुद्धिमानों में सर्वोत्तम महान कौन है?
उत्तर- वह जो कि औरतों द्वारा छला नहीं गया है.
प्रश्न- पुरुष के लिए बंधन क्या है?
उत्तर- स्त्रियां.
प्रश्न- वह कौन-सा ज़हर है जो अमृत की भांति प्रतीत होता है?
उत्तर- स्त्रियां.

कहावतें :

स्त्रियों पर विश्वास मत करो.
स्त्रियों का परामर्श बर्बादी की ओर ले जाता है.
स्त्रियां संदेह का भंवर, पापाचार से युक्त, कपटपूर्ण, स्वर्ग-प्राप्ति में बाधक एवं नरक का द्वार हैं.

स्त्रियों की प्रकृति के बारे में जन व्याप्त विश्वासों को स्पष्ट तौर से प्रदर्शित करने के बाद अब स्त्रियों के धर्म की स्थिति को बताती हूं. सद्‌गुण जैसे-सत्यनिष्ठा, सहिष्णुता, धैर्य, हृदय की शुद्धता तथा ईमानदारी स्त्रियों व पुरुषों के लिए समान है, परंतु धर्म -- जैसाकि इस शब्द को सामान्यत: समझा जाता है, हिंदू-विधि में इसकी दो विभिन्न प्रवृत्तियां है -- एक पुरुषोचित और एक स्त्रियोचित. पुरुषोचित धर्म अपने विशिष्ट कर्त्तव्य, विशेषाधिकार एवं सम्मान है. स्त्रियोचित धर्म की भी अपनी विचित्रताएं हैं.

सार-संक्षेप में कहा जा सकता है: अपने पति को भगवान की भांति मानना, अपनी मुक्ति पति के सहारे ही हो सकती है ऐसा मानना, सभी बातों में पति की बातों का आज्ञापालन करना, स्वतंत्रता का लोभ नहीं करना, क़ायदे एवं रिवाज़ों द्वारा स्वीकृत कामों के अतिरिक्त कुछ नहीं करना.

मनु कहते हैं: ''स्त्रियों के निम्न कर्त्तव्य हैं :

बचपन में, जवानी में, और बुढ़ापे में स्त्री को अपने घरों में भी अपनी इच्छा से कोई काम नहीं करना चाहिए.

स्त्री बचपन में पिता के, जवानी में पति के और पति के मर जाने के बाद बुढ़ापे में पुत्र के वश में रहे, स्वतंत्र कभी न रहे.

स्त्री को पिता, पति, और पुत्र से अलग रहकर स्वतंत्र रहने की कभी इच्छा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसके अभाव से स्त्री पिता एवं पति के वंशों को कलंकित कर देती है.

स्त्री को सदा प्रसन्न, गृहकार्यों में चतुर, घर के बर्तन आदि को शुद्ध एवं स्वच्छ रखने वाली और मितव्ययी होना चाहिए.

पिता या पिता की अनुमति से भाई स्त्री का जिसके साथ विवाह कर दे, स्त्री समस्त जीवन उस पति की आज्ञापालन करे तथा पति के मरने पर भी उसका उल्लंघन न करे.

स्त्रियों के अच्छे भाग्य के लिए विवाह में मांगलिक पाठों का सस्वर उच्चारण किया जाता है, प्रजापति के उद्देश्य से जो हवन किया जाता है, लेकिन पिता या अभिभावकों द्वारा स्त्री का वाग्दान किया जाना ही स्त्री को पति के अधीन बना देता है.

जो पति पवित्र पाठों के साथ उससे विवाह करता है, वह स्त्री को ऋतुकाल में तथा भिन्न ऋतुकाल में भी नित्य इस लोक में तथा परलोक में सुख देने वाला है.

सदाचार से हीन, परस्त्री में अनुरक्त और विद्या आदि गुणों से हीन पति भी पतिव्रता स्त्रियों के लिए देवता के समान पूज्य होता है.

स्त्रियों के लिए पृथक (पति के बिना) यज्ञ नहीं है, (पति की आज्ञा के बिना) व्रत और उपवास नहीं है, पति की सेवा से ही स्त्री स्वर्गलोक में पूजित होती है.

पतिलोक को चाहने वाली पतिव्रता स्त्री जीवित या मृत पति को अप्रिय कोई कार्य न करे. (*मनु* V, 147-56)

अपने पति के प्रति कर्त्तव्यों का उल्लंघन करने वाली स्त्री इस लोक में निंदित होती है, मरकर शृंगाल की योनि में उत्पन्न होती है और (कुष्ठ आदि) पाप-रोगों से दुखी होती है.

मन, वचन तथा कर्म से संयत रहती हुई जो स्त्री पति के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करती, वह पतिलोक को प्राप्त करती है तथा उसे सज्जन लोग 'पतिव्रता' कहते हैं.

मन, वचन, कर्म से संयत स्त्री इस स्त्री-व्यवहार से इस लोक में उत्तम यश और परलोक में पति के साथ अर्जित स्वर्ग आदि शुभ लोकों को प्राप्त करती है. (*मनु* V, 164-66)

अध्याय : 5

वैवाहिक अधिकार

वेद के अनुसार वही पुरुष पूर्ण है, जिसमें ये तीन व्यक्तित्त्व एकीकृत हों -- उसकी पत्नी, वह ख़ुद और उसकी संतानें और इसे बाद में विद्वान ब्राह्मणों ने भी स्वीकृति दी कि पति का अस्तित्त्व पत्नी से ही है. (*मनु* IX, 45)

पत्नी अपने पति की वैवाहिक संपत्ति घोषित की गई है तथा उसे 'गायों, घोड़ी, ऊंटनी, दासी, भैंस, बकरी, भेड़' के वर्ग में रखा गया है. (*मनु* IX, 48-51)

अपने पति के प्रति वितृष्णा दिखाने वाली पत्नी दण्डनीय है.

पति अपने साथ द्वेष करने वाली स्त्री की एक वर्ष तक प्रतीक्षा करे; इसके बाद उसकी सारी संपत्ति को छीनकर उसके साथ रहना छोड़ दे.

पति के किसी बुरी आदत से ग्रस्त होने या शराबी होने, या रोगी होने की वजह से पत्नी अपने पति के प्रति श्रद्धा नहीं रखती है तो वह पति पत्नी से उसके गहने एवं अन्य आवश्यक साम्रगी लेकर उसे त्याग दे. (*मनु* IX, 77-78)

मद्यपान करने वाली, दुराचारी, विद्रोही, रोगी, मारने-फटकारने वाली और ख़र्चीली स्त्री हो तो पति उसके जीवित रहने पर ही दूसरा विवाह कर ले.

संतानहीन स्त्री की आठवें वर्ष में, मृत संतान वाली स्त्री की दसवें वर्ष में, कन्या को ही जन्म देने वाली स्त्री की ग्यारवें वर्ष में और अप्रियवादिनी स्त्री की तत्काल उपेक्षा करके उसके जीवित रहने पर भी पति दूसरा विवाह कर ले. (*मनु* IX, 80-81)

पति के दूसरा विवाह करने पर जो स्त्री कुपित होकर घर से निकल जाए या निकलना चाहे तो पति उसे क़ैद कर दे अथवा बंधु-बांधव के समक्ष उसका परित्याग कर दे. (*मनु* IX, 83)

पुरुष-विधि के अनुसार कन्या को ग्रहण करने के बाद भी विधवा

के लक्षणों से युक्त, रोगी, क्षतयोनिदोष से युक्त अथवा कपटपूर्वक दी गई कन्या को छोड़ दे. (*मनु* IX, 72)

लेकिन स्त्रियों के लिए ऐसे कोई प्रावधान नहीं हैं; उल्टे पति चाहे 'सदाचार से हीन / दुराचारी, परस्त्री में अनुरक्त, अच्छे गुणों से विहीन, बुराइयों का आदी, मद्यपान का शौक़ीन और रोगी ही क्यों न हो, पत्नी को हमेशा उसके साथ रहना पड़ेगा तथा ईश्वर की भांति आदर देना होगा और क्यों नहीं!

उपरोक्त उद्धरणों को पढ़ने के बाद यह स्पष्टतया समझ में आ सकता है कि हिंदू-क़ायदे द्वारा स्त्रियों के प्रति व्यवहार में कितना निष्पक्ष न्याय (?) प्रदर्शित किया गया है. पुराने समय में यह नियम समुदाय द्वारा लागू करवाए जाते थे, एक पति का पत्नी पर पूरा प्रभुत्व था, पत्नी कुछ नहीं कर सकती थी, उसे विरोध का एक शब्द भी कहे बिना पति की इच्छाएं स्वीकार करनी होती थीं. अब तथाकथित ईसाई ब्रिटिश-शासन के अंतर्गत भी स्त्रियां पुराने समय की तुलना में ज़्यादा बेहतर स्थिति में नहीं हैं. यह सच है कि उस सुनहरे अतीत के दिनों की भांति अब पति कहीं से भी किसी को उठाकर पत्नी बनाकर घर नहीं ला सकता, लेकिन आज भी पत्नी पर उसका प्रभुत्व तो उसी तरह है.[3] अगर पत्नी पति की सत्ता को मानने से इंकार करती है तो पति न्यायालय में अपनी पत्नी पर वैवाहिक संपत्ति (पत्नी) के नाम पर दावा कर सकता है.

मेरी एक नज़दीकी रिश्तेदार[4] की बचपन में एक लड़के के साथ शादी तय कर दी गई, लड़के के माता-पिता इस बात पर सहमत हो गए कि विवाह के बाद लड़का लड़की के घर पर ही रहेगा और उसी के साथ पढ़ाई करेगा. मगर जैसे ही विवाह का उत्सव समाप्त हुआ, लड़के के माता-पिता अपनी सहमति से मुकर गए तथा लड़का अपने माता-पिता द्वारा उनके घर ले जाया गया. जहां वह एक निकम्मे मूर्ख के रूप में पला-बढ़ा, जबकि उसकी पत्नी

3. वास्तव में, यह प्राचीन धारणा कि पति को अपनी दोषी पत्नी को घर से ज़बर्दस्ती लाने का अधिकार है, *केसरी* द्वारा रुख्माबाई के केस में उद्धृत किया गया जिसका रमाबाई ने अपने इस अध्याय में उल्लेख किया है. (उनकी बहन का भी ऐसा ही केस था) देखें कौसाम्बी (1996).

4. यहां रमाबाई की बड़ी बहन कृष्णाबाई का संदर्भ है.

अपने पिता के प्यार और प्रगतिशील दृष्टिकोण के ज़रिए एक प्रखर व सुशिक्षित युवा स्त्री के रूप में बड़ी हुई.

तेरह वर्ष बाद वह लड़का अपनी पत्नी पर दावा करने आया, लेकिन लड़की के माता-पिता इतने निष्ठुर हृदय नहीं थे कि वे अपनी बेटी को ऐसे कंगाल के सुपुर्द कर दें जिसके पास न तो शक्ति है और न ही सम्मानपूर्वक जीवन जीने का भाव और न ही अपनी पत्नी को सहयोग करने व उसकी रक्षा करने का सामर्थ्य. पत्नी की भी इच्छा उसके साथ जाने की नहीं थी, क्योंकि वह उसके लिए अजनबी था. इस परिस्थिति में वह न तो लड़के से प्यार कर सकती थी और न ही उसे सम्मान दे सकती थी. समाज के अनेक दकियानूसी लोग इस बात को पचा नहीं पाए, क्योंकि उनके अनुसार एक पत्नी को पति का अनुकरण हर हाल में करना ही चाहिए. इसलिए उन्होंने धनराशि जमाकर लड़के (पति) को न्यायालय में जाने के लिए प्रेरित किया. इस मामले को न्यायालय ने बहुत बड़े मामले के रूप में लिया और हिंदू-विधि का अनुसरण करते हुए उस लड़के के पक्ष में फ़ैसला सुनाया.* अब लड़की (पत्नी) पति के साथ जाने को मज़बूर थी. सौभाग्यवश हैजे की वजह से वह इस दुख से मुक्ति पा गई. महामारी के बारे में चाहे जो कुछ भी कहा जाए कि ये प्रतिवर्ष देश पर कहर ढाती हैं, लेकिन महामारी उन दुर्भाग्यपूर्ण स्त्रियों के लिए अरुचिकर नहीं थी, जो कि सामाजिक, धार्मिक एवं राज्य के क़ायदे द्वारा इस प्रकार प्रताड़ित की गईं हों. अनेक स्त्रियों ने सांसारिक कष्टों से छुटकारे के लिए आत्महत्याएं कीं. ब्रिटिश न्यायालय में पति-पत्नी के विवाद को दायर करना उस समय अपवाद था, क्योंकि अधिकांशत: स्त्रियां अपने स्वभाव से ही ऐसी थीं कि सब कुछ चुपचाप सहन करती थीं और समझती थीं कि ईश्वर और न्याय पुरुषों के पक्ष में ही है.

रुख्माबाई का मामला, जिसने बाद में हिंदू समाज को गहरे तक उत्तेजित किया, इसी वर्ग के हज़ारों मामलों में से एक है. उसके बारे में

---

* जीवन-मृत्यु के साथ जुड़ी बातों / मुद्दों को छोड़कर ब्रिटिश सरकार भारतीय अवाम् के साथ समझौते के तहत अन्य किसी धार्मिक रीति-रिवाज़ों एवं नियमों में हस्तक्षेप नहीं करने के लिए बाध्य कर दी गई थी, साथ ही न्यायिक फ़ैसलों में भी इसका उल्लंघन न हो इसकी बाध्यता थी.

विशिष्ट बात यह है कि वह सुशिक्षित स्त्री थी जो अपने पिता की स्नेहिल देखभाल में बड़ी हुई थी तथा पिता से यह सीखा था कि कैसे वह ख़ुद को सामाजिक और धार्मिक कट्टरता के अत्याचार से बचा सकती है. लेकिन जैसे ही उसके पिता की मृत्यु हुई, एक व्यक्ति -- जो उसका पति होने का दावा करने लगा -- ने उसके विरुद्ध बंबई न्यायालय में अभियोग दाख़िल कर दिया. उस युवा स्त्री ने बहादुरी से अपना बचाव किया. वह विवाह, जो सहमति के बिना संपन्न हुआ था, उसको विधिमान्य नहीं माना जा सकता, के आधार पर उसने उस व्यक्ति के साथ रहने को अस्वीकृत कर दिया. न्यायाधीश मि. पीन्हें ने पहली नज़र में ही अपने न्यायिक तज़ुर्बे के आधार पर रुख्माबाई पर उनकी इच्छा के विरुद्ध पति के साथ रहने का दबाव डालने से इंकार कर दिया. इस निर्णय को सुनने के बाद पूरे भारत के दकियानूसी लोग ऐसे खड़े हो गए मानो वे सब एक पुरुष हों और एक साथ उन्होंने उस असहाय स्त्री और उसके महज़ मुट्ठी भर साथियों को सबक सिखाने के लिए कमर कस ली हो. उन्होंने पति को अपने पक्ष पर अड़े रहने के लिए प्रोत्साहित किया तथा ब्रिटिश सरकार को हिंदू-क़ायदे के अनुसार रुख्माबाई को उसके पति के साथ जाने व रहने के लिए दबाव डालने में विफल रहने पर जन-असंतोष की धमकी दी. इस व्यक्ति को सहारा देने के लिए व्यापक धन इकट्ठा किया गया. ताकि वह फुल बेंच के निर्णय के ख़िलाफ़ ऊपरी अदालत में न्याय की गुहार लगा सके. इस पर मुख्य न्यायाधीश ने इस मामले को निम्न अदालत में पुन: हिंदू-क़ायदों के अनुसार जांचने हेतु भेज दिया. इस मुक़दमे के दुखद समापन को मैंने एक पत्र में रख रखा है जो मुझे मेरी प्रिय सखी रुख्माबाई ने स्वयं 18 मार्च, 1887 को लिखा था. यहां मैं उस पत्र को उद्धृत कर रही हूं:--

> इस जागृत युग में भी फुल बेंच के सुशिक्षित और सभ्य जज चार हज़ार साल पहले के बर्बर युग में बनाए अमानवीय नियमों को लागू करने हेतु निश्चयवान दिखाई देते हैं. वे न केवल मुझे उस आदमी के पास जाकर रहने का आदेश दे चुके हैं, बल्कि विवाद के ख़र्च का भुगतान करने के लिए दबाव डाल रहे हैं. ज़रा इस असाधारण निर्णय पर विचार तो करो! क्या हम निष्पक्ष ब्रिटिश सरकार के अंतर्गत नहीं रह रहे जो कि सभी को समान न्याय देने की डींगें भरती है तथा क्या हम सभी रानी साम्राज्ञी विक्टोरिया के द्वारा शासित नहीं हैं, जो स्वयं एक स्त्री है? मेरी प्रिय सखी, जब तक यह पत्र तुम तक पहुंचेगा मैं राज्य की जेल में होऊंगी,

क्योंकि मैं न्यायाधीश फेरॅन के आदेश को स्वीकार नहीं करती हूं और न ही कर सकती हूं.

भारत में स्त्रियों के लिए कोई आशा नहीं है, फिर चाहे वह हिंदू-क़ायदा हो या फिर ब्रिटिश-शासन. वैसे कुछ लोग कह रहे हैं, इस क्रूर फ़ैसले की वजह से हो सकता है कि उसके प्रति (रुख्माबाई) जनमत के रुख में नरमी आए, लेकिन इसकी उम्मीद कम ही है. मुझे डर है कि कठोर-हृदया सास अब ज़्यादा मज़बूत होगी तथा अपने उन पुत्रों का ज़्यादा प्रेरित कर सकेगी, जो किसी कारण से ब्रिटिश कोर्ट में अपनी पत्नियों के प्रति वैवाहिक अधिकार लागू करने में धीमे रहे थे. अब ये विश्वास है कि किसी भी परिस्थिति में ब्रिटिश सरकार हिंदू-क़ायदे के प्रतिकूल कार्य नहीं करेगी.

अतीत के अनुभवों द्वारा पढ़ाए गए पाठों के आधार पर हम सभी कोर्ट के निर्णय पर आश्चर्यचकित नहीं हैं. हमारा आश्चर्य यह है कि शक्तिशाली हिंदू-क़ायदे, बलशाली ब्रिटिश सरकार, लगभग 13 करोड़ पुरुषों एवं हिंदुओं के 33 करोड़ देवी-देवताओं; इन सभी ने आपस में रुख्माबाई को निर्मूल करने हेतु षड्यंत्र रचा और रुख्माबाई जैसी एक असहाय स्त्री ने इन सभी के सामने अपनी आवाज़ उठाने का साहस किया. हम ब्रिटिश सरकार को असहाय स्त्री की रक्षा नहीं करने के लिए दोष नहीं दे सकते, क्योंकि तो मात्र भारत के पुरुषों के साथ की गई अपनी संधियों को ही पूरा कर रही है. मुक्तिदाता के वाक्य कितने सत्य हैं, 'तुम एक साथ ईश्वर व धनकुबेर को ख़ुश नहीं रख सकते.' क्या प्राचीन संस्थाओं के सिद्धांतों एवं ताक़तों के विरोध में जाकर इंग्लैंड एक असहाय औरत की सहायता कर ईश्वर की सेवा करेगा? धनकुबेर इससे निश्चय ही अप्रसन्न हो जाएगा तथा भारत में ब्रिटिश-शासन व लाभ ख़तरे में पड़ जाएगा. फिर भी हम उम्मीद करें कि कि भले ही हम 1 लाख बहनों को अपने सुख एवं अधिकारों की तिलांजलि देनी पड़े, हम सफल ज़रूर होंगे.

इस बीच हमें धैर्यपूर्वक न्यायसंगत राज्य के आगमन की प्रतीक्षा करनी होगी, जिसमें कमज़ोर, निम्न और असहाय प्रसन्न रखे जाएंगे, क्योंकि भगवान स्वयं इनकी आंखों से सारे आंसू पोंछ लेगा.

अध्याय : 6

वैधव्य

अब हम ऊंची जाति की हिंदू स्त्री के जीवन की बदतर एवं सबसे भयानक अवधि पर बात करने जा रहे हैं. पूरे भारत में वैधव्य को स्त्री द्वारा किए गए भयानक अपराध या पूर्व जन्म में किए गए अपराधों के दंड के रुप में देखा जाता है. अपराध की प्रकृति के अनुसार दंड की अवधि कम या ज़्यादा हो सकती है. पति के प्रति अवज्ञा एवं अनिष्ठा रखना या पूर्व जन्म में उसकी हत्या करना, इनको प्रमुख अपराधों में गिना जाता है, जिसका दंड वर्तमान जीवन में वैधव्य के रूप में मिलता है. अगर विधवा पुत्रों की माता हो तो वह प्राय: घृणा की पात्र नहीं है; यद्यपि वह निश्चित रूप से पापिन की भांति देखी जाती है. तथापि सामाजिक नफ़रत व निंदाओं से एक हद तक निज़ात मिल जाती है, क्योंकि वह बेटे की मां होती है. इसके बाद एक बूढ़ी विधवा का स्थान आता है. बूढ़ी विधवा सदाचार / पतिव्रत के कारण अपनी हज़ारों लालसाओं को बहादुरी से रोकती है तथा अनेक आदेशों का सावधानी से पालन करती है; सभी लोगों से सम्मान पाती है. जिसमें हम यह जोड़ सकते हैं कि दिया गया सम्मान बूढ़ेपन को लेकर है. लड़कियों की विधवा मां के साथ अलग तरीके से व्यवहार किया जाता है. कभी-कभी स्वाभाविक घृणा के साथ, विशेष रूप से तब, जब उसके पति के रहते उसकी पुत्रियों की शादी नहीं हो पाती. लेकिन बाल-विधवा, और संतानहीन विधवा के साथ समुदाय विशेषत: घृणा एवं दुर्व्यवहार करता है. इन्हें सबसे बड़े अपराधी की भांति देखा जाता है, जिसे ऊपर से आदेश सुनाया जा चुका है.

प्राचीन समय में जब मनु की संहिता नहीं थी तथा पुरोहित ने विधवाओं से संबंधित मूल वैदिक पाठों को विकृत नहीं कर दिया था, तब पुनर्विवाह का रिवाज़ अस्तित्त्व में था.

इसका इतिहास संक्षेप में बताया जा सकता है. बाल विवाह की प्रथा के कारण बहुत सारी लड़कियां यह जानने से पहले कि विवाह होता क्या है,

विधवा हो जाया करती थीं. पति, जो निस्संतान (पुत्रहीन) मर गया, उसे स्वर्ग में प्रवेश तथा अमरत्व के आनंद का अधिकार नहीं होता था, क्योंकि शस्त्रों के अनुसार ''पिता अपने पुत्र का चेहरा देखता है तो अपना ऋण पुत्र पर डालता है और अमरत्व प्राप्त करता है.'' वेदों में यह कहा गया है, ''पुत्र वालों के लिए अनंत संसार है, लेकिन उस व्यक्ति के लिए स्थान नहीं है जो पुत्र से रहित हो.'' शत्रुओं के लिए जो सबसे बड़ा शाप घोषित किया जा सकता था, वह था, ''हमारे शत्रु निस्संतान होवें.''

ये दिवंगत युवा पति स्वर्ग प्राप्त करें, इसके लिए पूर्वज संतों ने 'नियोग' के रिवाज़ की खोज की. यह यहूदियों में भी प्रचलित था. हिंदू आर्यों ने उस बेचारे मरे हुए पति के लिए उपाय खोज निकाला था, पति का भाई, चचेरा या अन्य कोई नातेदारी संबंधी सफलतापूर्वक 'नियुक्त' होता था तथा यथोचित रूप से संतान उत्पत्ति के लिए अधिकृत होता था. बाद में भोगेच्छा / कामेच्छा पूर्ति के लिए नियुक्त लोगों के द्वारा कोई भी संभोग उसी समय से अवैधानिक एवं पापपूर्ण समझा जाता.

तथापि स्त्री विधवा ही रहती थी तथा नियोग द्वारा उत्पन्न संतान उसके पति की उत्तराधिकारी मानी जाती थी. बाद में, वैदिक पाठों में उद्धृत होने ''संतानहीन पुरुष के लिए यहां कोई स्थान नहीं है'' के बावजूद 'नियोग' के रिवाज़ को धीरे-धीरे हतोत्साहित किया गया.

मनु की आचार-संहिता में विधवा के कर्त्तव्य निम्न प्रकार से बताए गए हैं :

> पति के मर जाने पर स्त्री पवित्र पुष्प, कंद और फल के आहार से शरीर को क्षीण करे तथा व्यभिचार की भावना से दूसरे पुरुष का नाम भी न ले.
>
> एक पतिव्रता, अनुधर्म चाहने वाली स्त्री जीवनपर्यंत क्षमायुक्त, नियम से रहने वाली तथा मधु-मांस-मद्य को छोड़कर ब्रह्मचर्य से रहने वाली बने. (*मनु* V, 157-158)
>
> ... पतिव्रता स्त्रियों का दूसरा पति भी कहीं पर (किसी शास्त्र में) नहीं कहा गया है. (*मनु* V, 157-162)
>
> पति के मरने पर ब्रह्मचारिणी रहती हुई पतिव्रता स्वर्ग को जाती है... (*मनु* V, 160)
>
> मन, वचन, कर्म से संयत स्त्री इस लोक में उत्तम यश को तथा परलोक में पति के साथ स्वर्ग आदि शुभ लोकों को प्राप्त करती है.*
> (*मनु* V, 166)

विधुर के लिए निम्नलिखित नियम है :

> ऐसे आचरण वाली पहले मरी हुई सवर्ण स्त्री की दाह-क्रिया धर्मज्ञ द्विजाति अग्निहोत्र अग्नि तथा यज्ञ पात्रों से विधिवत करें.
>
> पहले मरी हुई स्त्री का दाहकर्म आदि अंत्येष्टि संस्कार करके गृहस्थाश्रम को चाहने वाला द्विजाति फिर विवाह करे अथवा श्रोताग्नि का आधान करे.
>
> ... आयु के द्वितीय भाग में शास्त्रानुसार विवाह कर गृहस्थाश्रम में निवास करें. (*मनु* V, 167-169)

पति की चिता में विधवाओं का आत्मदाह ऐसी प्रथा है, जो स्पष्टत: मनु की आचार-संहिता के संकलन के पश्चात पुरोहितों द्वारा ईज़ाद की गई. आपस्तम्ब, आस्वलयन तथा दूसरे धर्मसूत्र, जो मनु के पहले के हैं, इस नियम का उल्लेख नहीं करते और न ही मनु की संहिता ही. विष्णु आचार-संहिता, जो कि तुलनात्मक रूप से नवीन रचना है, कहती है कि 'अपने पति की मृत्यु के पश्चात या तो वे सत्व जीवन व्यतीत करें या पति की चिता में जल कर सती हो जाएं. (*विष्णु*, 25,2)

जिन्होंने भव्य स्तुति कार्य की भांति देखे जाने वाले तथाकथित *सती* के भयानक रिवाज़ की खोज की, उनका उद्देश्य क्या रहा होगा, यह निश्चय करना बहुत ही कठिन है. वेद के बाद दूसरी महान सत्ता मनु ऐसे किसी बलिदान का समर्थन नहीं करते. पुरोहितों ने ऐसे पाठों को उत्पन्न / सृजित करने की आवश्यकता महसूस की, जो कि विधवा के प्राकृतिक / स्वाभाविक डरों से निज़ात दिला सके. साथ-ही-साथ उन आलोचकों को भी चुप कर सके, जो इस लोमहर्षक संस्कार को बिना मज़बूत सत्ता के स्वीकार करने से इंकार करते हैं. अत: पुरोहित कहते थे कि ऋग्वेद में एक पाठ है, जो उनके पाठ के अनुसार निम्न बात कहता है--

> Om! Let these women, not to be widowed, good wives, adorned with callyrium, holding clarified butter, consign

---

* यह ध्यान में रखने वाली बात है कि आम धारणा के अनुसार स्त्री के लिए पति के आसन व महल स्वर्ग के समान हैं. मन, वचन और कर्म से यदि वह पति के प्रति समर्पण रखती है तो स्वर्ग में उसे पति के साथ सम्मान मिलेगा. नरक ही वह स्थान है जहां वह पति से अलग रहकर आज़ाद रख सकती है.

> themselves to the fire! Immortal, not childless, not husbandless, well adoतded with gems, let them pass into the fire whose original element is water.

यहां एक सत्ता थी, जो मनु या अन्य नियम प्रादाताओं से व्यापक थी और जिसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती थी. पुरोहितों एवं अनेक साथियों ने स्वर्ग के विचार को इस तरह से रंगीन एवं सभी प्रकार के आनंद से युक्त जगह बनाया कि बेचारी विधवाएं अपने पति के साथ उस जगह को पाने के लिए अधीर हो उठी. स्त्री इस महान कार्य से न केवल स्वर्ग में जाने का विश्वास पाती है, बल्कि प्राण-त्याग के द्वारा वह स्त्री स्वयं अपनी, अपने पति, उसके परिवार से लेकर सात पीढ़ियों तक की मुक्ति को सुरक्षित करा देती है फिर चाहे ये लोग पापी ही क्यों न हों, ये स्वर्ग में सर्वोच्च आनंद को प्राप्त करेंगे तथा धरती पर समृद्धशाली होंगे. अगर कोई स्त्री अपने या अपने प्रियजनों के प्रति उस तरह के परिणामों में विश्वास रखेगी तो वह अपने आप को सती क्यों नहीं कर देगी? इसके अलावा वैधव्य के बाद विधवा जीवन की दुर्गति और कष्टों के प्रति सचेत स्त्री तत्काल आग की लपटों में क्षणिक कष्ट को बेहतर समझते हुए ख़ुद को समर्पित करना उचित समझती है. वह ख़ुशी से सहमत होकर अपने को पुरुषों एवं देवताओं को प्रसन्न करने हेतु प्रस्तुत करती है. *सती* की धार्मिक रीति को इस प्रकार वर्णित किया गया है:

> विधवा स्नान करती है, नए व चमकदार आभूषण पहनती है तथा अपने बाएं हाथ में कुश / घास को पकड़े रहती है. अपनी दाईं हथेली से पानी का घूंट लेती है, कुछ तिल के दाने छितराती है, तब पूर्व की ओर देखते हुए कहती है , "ओम! आज मैं (स्त्री अपना नाम लेगी) इस परिवार की, इस अग्नि में मरुंगी ताकि अरुंधति से मिल सकूं और स्वर्ग में रह सकूं; *स्वर्ग* में मेरा विराम उतने समय का हो, जितने मेरे पति के शरीर पर बाल हैं, उससे करोड़ गुना पल तक मैं स्वर्ग में रहूं, ताकि मैं अपने पति के साथ स्वर्ग का आनंद ले सकूं तथा अपने मातृवंश और पितृवंश के पूर्वजों का आशीर्वाद प्राप्त करूं और इंद्र के 14 क्षेत्रों से गुज़रते हुए अप्सराओं द्वारा प्रशंसा पाऊं. साथ ही अपने पति के द्वारा किए गए पापों को माफ़ी मिले जो भले ही उसने एक ब्राह्मण को ही क्यों न मारा हो और सत्य व नैतिकता के नियमों को तोड़ा हो या दोस्तों की हत्या की हो. अब मैं मेरे पति की चिता पर चढ़ती हूं तथा संसार के आठों प्रदेशों सूर्य, चंद्रमा,

वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, और मेरी आत्मा के संरक्षक, मैं तुम्हें पुकारती हूं. मृत्यु के देवता यम, दिन, रात, संध्या तुम सभी गवाह हो कि मैं अपने प्रिय के लिए उसकी चिता पर सती हो रही हूं."

क्या यह आश्चर्यजनक है कि सती का अपनी अग्निशैय्या तक जाने का रास्ता जन-उत्सव के समान होता है. सती द्वारा आग में जाने से पहले सारे दुखी जन उससे प्रार्थना करते हैं कि वह अपने छोटे, निडर और विजित हाथों से उनको छुए, अगर वह उनको देख लेगी तो उनके सारे पाप धुल जाएंगे? (ई. अर्नाल्ड).

यह कृत्य पूर्णत: स्वैच्छिक माना जाता था तथापि इसमें कोई संदेह नहीं है कि अनेक मामलों में ऐसा नहीं माना जाता था. कुछ स्त्रियां इसलिए मरती थीं कि उसका अपने पति के प्रति प्रेम मृत्यु से बढ़कर होता था; कुछ मरती थीं इसलिए नहीं कि वे संसार में ख़ुश रह चुकी हैं, बल्कि इस कारण कि उन्हें पूरा विश्वास था कि वे परलोक में ज़्यादा ख़ुश हो सकेंगी. कुछ नाम के लिए, कुछ इस तरह मरने वालों के लिए बनाई जाने वाली समाधि एवं स्मारक के लिए. कुछ उनका नाम उनके पारिवारिक देवताओं की लंबी सूची में लिख लिया जाए इसलिए; कुछ अन्य हज़ारों लालसाओं, पापों, कष्टों से मुक्ति पाने के लिए -- जिसके बारे में वे जानती थी कि विधवा होने के नाते उनके भाग्य में आए हैं -- वे सती होती थीं. वे स्त्रियां, जो कि शुद्ध महत्त्वाकांक्षा या क्षणिक आवेग के कारण सती होने के निश्चय की घोषणा कर देती थीं, प्राय: अग्नि की भयावहता को देखकर पीछे हटने की कोशिश करती थीं, लेकिन तब तक देर हो चुकी होती थी. वे विधिवत् शपथ ले चुकी होती थीं, जिसे तोड़ा नहीं जा सकता था इसलिए पुजारी व अन्य पुरुष तत्काल उन्हें चिता पर ज़बर्दस्ती धकेलते थे. बंगाल में जहां यह रिवाज़ सबसे ज़्यादा प्रचलन में था, ब्रिटिश-शासन की लंबी अवधि के बाद भी ऐसे वर्णनों की अनगिनत दुखद घटनाएं विद्यमान थीं. ईसाई मिशनरीज ने इस अमानवीय रिवाज़ को समाप्त करने हेतु याचिका दी, परंतु उन्हें यह बताया गया कि लोगों द्वारा रचित सामाजिक व धार्मिक राज्यों से सरकार को कोई सरोकार नहीं है तथा इस तरह के हस्तक्षेप करने से भारत में उनका शासन ख़तरे में आ सकता था. यह रिवाज़ बिना किसी छेड़छाड़ के वर्तमान

सदी के प्रथम पच्चीस वर्षों तक चला आ रहा था. जब हिंदुओं के मध्य से एक पुरुष -- राजा राम मोहन राय ने इस प्रथा के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई तथा यह घोषित किया कि यह वेदों द्वारा स्वीकृत नहीं है, जैसाकि पुरोहित दावा करते थे. राय ने इस विषय पर कई किताबें लिखीं तथा इस कृत्य के पीछे की साज़िश को दिखलाया तथा अपने कुछ मित्रों के सभ्य सहयोग से वह सरकार द्वारा इसे समाप्त करवाने में सफल हो गए. लार्ड विलियम बैंटिक भारतीय गर्वनर जनरल थे. उनके पास वह नैतिक साहस था, जिससे वह 1829 का प्रसिद्ध क़ानून लागू करवा सके, जो ब्रिटिश-शासन में *सती* के धार्मिक रिवाज़ को प्रतिबंधित करता था तथा ऐसा करने वालों को अपराधी मानते हुए उनके लिए फांसी की सज़ा मुक़र्रर की गई. परंतु यह नियम 1844 से पहले तक परंपरागत हिंदू विचारों पर कोई प्रभाव नहीं डाल सका.

वेदों से जो पाठ उद्धृत किया गया, उसे ग़लत तरीके से अनूदित किया गया एवं नया भाष्य बनाया गया. इसे दिखलाना कठिन कार्य नहीं था, क्योंकि सभी ब्राह्मण वेद के अर्थ को समझते थे. वैदिक भाषा संस्कृत का प्राचीन रूप है तथा बाद की संस्कृत से काफ़ी भिन्न है. अनेक लोगों को वेद याद है और बिना ग़लती के उसे दोहरा सकते हैं, लेकिन वास्तव में इनमें से कुछ ही ऐसे हैं जो उच्चरित होने वाले पाठों का अर्थ जानते हैं. मैक्समूलर कहते हैं, "ऋग्वेद विधवा को सती होने के लिए ऐसा कोई भी दबाव डालने की बात नहीं करता, इससे पता चलता है कि प्रारंभिक इतिहास में ऐसी कोई प्रथा नहीं थी." ऋग्वेद की ऋचाओं और गृह-सूत्र की वैदिक रस्मों के अनुसार पत्नी अपने पति के शव के साथ चिता तक जाती है, लेकिन वहीं ऋग्वेद से लिया गया एक श्लोक पद है, जो उसे आदेश देता है :

यह इस प्रकार कहा गया है, "स्त्री जागो, जो मर गया है, उसके पास बैठकर क्या कर रही हो. आओ, हमारे साथ आओ. पति के प्रति अपनी पत्नी होने के कर्त्तव्यों को पूरा करो जिसने तुम्हारा हाथ पकड़ा था और तुम्हें मातृत्व सुख दिया."

यह पद उस श्लोक से पहले का है, जिसे बाद में ब्राह्मणों ने झूठा कह दिया और अपने अभिमत के समर्थन में उद्धृत करते थे. इस श्लोक का पाठ संदेह से परे है, इसके लिए अनेक पाठ नहीं हैं -- हमारे शब्दों के भाव में

और संपूर्ण ऋग्वेद में भी. इसके अतिरिक्त हमारे पास टीकाओं और भाष्यों का संग्रह है, जिसमें कहीं भी वेद के मूल पाठ के अर्थ में भिन्नता नहीं है. यह अन्य स्त्रियों को संबोधित किया गया है, जो अभी अंत्येष्टि में उपस्थित हैं, जिन्हें वेदी पर तेल और मक्खन उड़ेलना है.

"वे स्त्रियां जो विधवा नहीं हैं, जिनके अच्छे पति हैं, वे नज़दीक आएं तथा तेल-मक्खन डालें. ये जो आभूषण से अलंकृत माताएं हैं, वे पहले वेदी पर बिना दुख, बिना आंसू के जाएं."

दुष्ट पुरोहितों ने महज़ इस पद्यांश को ग़लत अर्थ देकर पूरे श्लोक का ही अर्थ बदल कर रख दिया है. जो भी संस्कृत का जानकार है, वह आसानी से समझ सकता है कि यह मिथ्याकरण नकलनवीस की असावधानीवश हुआ होगा, लेकिन पुरोहितों ने ही इसे स्वीकृति दी है अत: वे भी कम अक्षम्य नहीं हैं. इसके संदर्भ के साथ इस श्लोक को देखने के स्थान पर पुराहितों ने अपनी कल्पना के अनुसार इसे अनूदित किया तथा इस प्रकार धर्म के बहाने वे 2000 वर्षों से अधिक समय तक अनगिनत जीवनों को समाप्त करने के कारण रहे हैं.

सती का धार्मिक रिवाज़ अंशत: लोगों की इच्छा तथा कुछ हद तक शासन के क़ानून द्वारा प्रतिबंधित है. अनेक सज्जन लोग राहत महसूस करते हैं. सोचते हैं कि हिंदू विधवा उसके दर्दनाक भाग्य के हाथों से उबारी जा चुकी है, लेकिन क्या वे वाक़ई सच्चाई से वाकिफ़ हैं!

उत्तर पूर्वी प्रदेश को छोड़कर सारे भारत में स्त्री को अपने पति की मृत्यु के बाद दुसाध्य तक़लीफ़ों से सताया जाता है. उसका पालन-पोषण ग़लत तरीके से होता है और बचपन से ही उसमें तुच्छ इच्छा और आभूषणों के प्रति प्रबल मोह और आत्मघृणा का भाव उत्पन्न कर दिया जाता है. जैसे ही पति की मृत्यु होती है, स्त्रियां को सोने-चांदी के प्रत्येक आभूषण, चमकदार रंगीले परिधानों और उन सभी प्यारी चीज़ों से, जो वह रखना चाहती हैं -- उन्हें वंचित कर दिया जाता है. समाज की निर्ममता यहीं नहीं रुकती है, दक्षिण के ब्राह्मणों में हर पखवाड़े सभी विधवाओं के सिर नियमित रूप से मुड़वाए जाते हैं. कुछ नीची जातियों ने भी विधवाओं के सिर मुड़वाने की प्रथा को स्वीकार कर लिया तथा अपने ऊंची जाति के भाइयों

की नकल उतारकर वे ख़ुद को गौरवान्वित महसूस करते हैं. कौन-सी स्त्री होगी, जो अपने कोमल व चमकदार बालों से प्यार नहीं करती -- जिन बालों से प्रकृति ने उसके सिर को सजाया है? एक हिंदू स्त्री सोचती है कि अपने बाल खोना मृत्यु से भी बदतर है. 14-15 वर्ष की लड़कियां मुश्किल से ही कारण जानती होंगी कि क्यों उन्हें उनकी हर पसंदीदा चीज़ से वंचित किया जा रहा है. इन लड़कियों के चेहरे पर उदासी रहती है और उनकी आंखें अश्रुपूर्ण होती हैं. वे एक अंधेरा कोना खोजकर ख़ुश होती है, जहां वह अपने चेहरे को छुपा सकें, जैसे उन्होंने कोई शर्मनाक काम या अपराध कर दिया हो. विधवा को एक साधारण परिधान -- सफ़ेद, लाल या भूरे रंग का -- पहनना पड़ता है. दिन के 24 घंटों में से केवल एक बार वह भोजन करती है. वह कभी पारिवारिक दावतों और उत्सवों में दूसरों के साथ शामिल नहीं होती. उसे शकुन के अवसरों पर अपने आपको लोगों से छिपाना पड़ता है. प्रात:काल सबसे पहले किसी विधवा का चेहरा देखना स्त्री व पुरुषों के लिए अपशकुन माना जाता है. यदि घर से निकलते समय कोई विधवा रास्ता काट दे तो एक पुरुष अपनी यात्रा को स्थगित कर देगा.

विधवा को 'मनहूस' कहा जाता है. 'रांड' वह नाम है, जिसके द्वारा विधवा सामान्यत: जानी जाती है. यह शब्द चरित्रहीन लड़की या वेश्या की संतान के लिए प्रयुक्त होता है. विधवा के पति के परिजन व पड़ोसी हमेशा उसे बुरे नामों से पुकारते हैं तथा भद्दी भाषा में संबोधित करने के लिए हर पल तैयार रहते हैं. शायद ही कभी कोई ऐसा दिन होता है, जब उसे इन लोगों के द्वारा भला-बुरा सुनना नहीं पड़ता, जिसका कारण है कि यह लड़की उनके प्रिय की मृत्यु का कारण है. सास इस दुख में अपनी कड़वी बोली से और ज़्यादा प्रताड़ित करती है, ऐसी बोली जो हृदय को भेद देती है. संक्षेप में, युवा विधवा की ज़िंदगी हर संभव तरीके से असहनीय प्रतीत होती है. इस नियम को लेकर कुछ अपवाद हो सकते हैं, लेकिन यह दुखपूर्ण है कि वे बहुत ज़्यादा नहीं है. इन सबके साथ युवा विधवा हमेशा संदेह से देखी जाती है, एक क़ैदी की भांति उस पर निगाह रखी जाती है. इस डर के साथ कि वह किसी अनुचित कार्य को करके परिवार पर कोई विपत्ति न ले आए. उसके सिर को मुड़वाकर उसके रूप को बिगाड़ने, आभूषण या चमकदार परिधान पहनने से रोकने का उद्देश्य उसे पुरुष की

नज़र में कम आकर्षक बनाना ही है. दिन में एक बार से अधिक न खाने देना, पवित्र दिनों में उसे खाने से पूर्णतः दूर रहने के लिए मजबूर करना उस अनुशासन का हिस्सा है, जिसके द्वारा उसकी तरुण प्रकृति एवं इच्छाओं को वश में किया जाता है. वह घर में क़ैद कर दी जाती है; उसे अपनी सहेलियों तक से मिलने की मनाही होती है. उसके पिता, भाई, चाचा-मामा, बुआ के लड़के (जो उसके भाई होते हैं) के अलावा कोई पुरुष उसे न तो देख सकता है न ही बात कर सकता है. उसकी ज़िंदगी अज्ञान के अंधेरे में, आशाहीन, प्रत्येक सुख एवं सामाजिक लाभ से वंचित होकर असहनीय बन जाती है तथा ख़ुद के लिए तथा व्यापक रूप से समाज के लिए श्राप बन जाती है. कुछ ही लोग होते हैं, जो उसके प्रति सहानुभूति रखते हैं. उसके अपने माता-पिता, जिनके साथ विधवा तब रहती है, जब उसके पति का रिश्तेदार न हो या उसके पति के रिश्तेदार उसका पालने करने में असमर्थ हों, निस्संदेह उसके साथ सहानुभूति रखते हैं. लेकिन रिवाज़ और धार्मिक विश्वास भी माता-पिता के स्नेह से ज़्यादा मज़बूत प्रभाव डाले रहते हैं. वे भी अपनी बेटी के साथ अपने विश्वास के चलते बुरा व्यवहार करते हैं, उन्हें भय रहता है कि उल्लंघन उनके घर पर भी विपदा ला सकता है.

एक युवा विधवा के लिए यह असामान्य बात नहीं है कि स्वयं के किसी व्यवसाय के बिना जो कि उसके दिल व दिमाग़ को संतुष्ट कर सके, उस अपमान एवं संदेह, जिसका वह सतत् शिकार बनती है, को सहने से इंकार कर दे तथा अपने जेल जैसे घर से भाग सके. लेकिन यदि वह इससे बाहर निकलती भी है तो वह कहां जाएगी? कोई भी सम्मानित परिवार, यहां तक कि निम्न जाति का ही क्यों न हो, उसे नौकरानी नहीं रखेगा. उसकी कला की पूर्णतया उपेक्षा की जाएगी, जिसके सहारे वह एक सम्मानित जीवन व्यतीत कर सकती है. एक जोड़ी कपड़े के सिवाय उसके पास कुछ नहीं होता है. भूख और मृत्यु उसके मुख पर स्पष्ट दिखाई देते हैं, आशा की कोई किरण उसके गहन मलिन मुख पर दिखाई नहीं देती है. वह क्या कर सकती है? एकमात्र विकल्प, जो उसके सामने रहता है या तो वह आत्महत्या कर ले या उससे भी बुरा यह कि बदनामी और शर्मनाक ज़िंदगी को स्वीकार कर ले. अफ़सोस! इस निर्दयी रिवाज़ ने हज़ारों युवा विधवाओं को इस दुर्भाग्य की ओर धकेला है. यह एक स्त्री की प्रार्थना है, जो जीवन भर दुख

झेलती रही. मेरे किसी भी शब्द से ज़्यादा अच्छे तरीके से यह प्रार्थना उसकी अपनी बहन के अनुभव को वर्णित करती है. यह ब्रिटिश जनाना मिशनरीज़[5] की शिष्या द्वारा लिखी गई, जो उन गिनी-चुनी हिंदू स्त्रियों में से थी जो पढ़-लिख सकती थी, जिसने बचपन से ही हिंदू वैधव्य के अपमान व कड़ुवे दुख का अनुभव किया:

> हे ईश्वर! मेरी प्रार्थना सुनो! कोई भी अपनी नज़र उस दमन की ओर नहीं डालता, जिससे हम बेचारी महिलाएं पीड़ित होती हैं. अश्रुपूर्ण क्रंदन एवं इच्छा के साथ हम हर ओर जा चुकी हैं, इस आशा के साथ कि कोई हमारी रक्षा करेगा. कोई भी हमारी ओर देखकर पलकें नहीं खोलता, न ही हमारे मामले में पूछताछ ही करता है. हमने सब ओर ढूंढ लिया है लेकिन एक आप ही हैं, जो हमारी शिकायत सुनेंगे. आप ही हैं, जो हमारी निस्सहायता, हमारी पदावनति, हमारी बेइज़्ज़ती को जानते हैं. हे भगवान हमारी दशा की ओर निहारो, युगों से घोर उपेक्षा के अंधकार ने हमारे मस्तिष्क एवं भावों को आच्छादित कर दिया है; धूल के बादल की भांति यह उत्पन्न होता है और हमें झकझोर देता है. हम पुराने एवं सांचों के घरों में क़ैदियों की भांति हैं, रिवाज़ों की आंधी में जलाई और बांधी जाती हैं तथा बाहर आने की ताक़त हममें नहीं है. पीड़ित व जीर्ण-शीर्ण हम रसहीन गन्ने के सूखे भूसे के समान हैं. अंतर्यामी ईश्वर, हमारी प्रार्थना सुनो, हमारे पापों को क्षमा करो तथा मुक्ति के लिए शक्ति दो कि हम इस ईश्वर के संसार को देख सकें. हे पिता, हम इस क़ैद से कब रिहा होंगे? किस पाप के लिए इस जेल में रहने के लिए हमारा जन्म हुआ है? ईश्वर के सिंहासन के निर्णय से ही न्याय बहता है, लेकिन हम तक नहीं पहुंचता है. इसमें से जीवन का दुर्भाग्य ही मात्र हमारे पास पहुंचता है.
>
> हे प्रार्थना सुनने वाले ईश्वर, अगर मैंने कोई ग़लती की है तो मुझे क्षमा करो. हम इतनी अज्ञानी हैं कि नहीं जानतीं कि पाप क्या है? क्या पाप का दंड उन लोगों को मिलेगा जो इससे अनभिज्ञ हैं कि यह पाप है क्या? हे महान ईश्वर, हमारा नाम पियक्कड़ों, पागलों, मूर्खों तथा जानवरों के साथ लिखा जाता है. जैसे ये लोग उत्तरदायी नहीं हैं, वैसे हमें भी मान लिया गया है. जो अपराधी आजीवन कारावास भोग रहे हैं, वे हमसे ज़्यादा भाग्यशाली हैं, क्योंकि वे ईश्वर के संसार का कुछ भाग तो देख

---

5. जनाना मिशनरीज़ महिलाओं की मिशनरीज़ थी, जो परिवार के मुखिया की आज्ञा से स्त्रियों को उनके एकांतिक आवास में पढ़ाया करती थीं. अनेक ईसाई संप्रदायों द्वारा विशेष जनाना मिशनरीज़ स्थापित किए गए जिनका उद्देश्य घरों में बंद महिलाओं तक पहुंचना था.

पा रहे हैं. वे जेल में नहीं पैदा हुए थे, लेकिन हम एक दिन के लिए तो क्या सपने में भी ईश्वर की दुनिया को नहीं देख सकते. यह हमारे लिए बस एक नाम है और कुछ नहीं. इस दुनिया को न देखने के कारण हम तुम्हें नहीं जान सकते. जिन्होंने तुम्हारे कार्यों को देखा है, वही तुम्हें समझ सकते हैं, लेकिन हमारे लिए तो इस क़ैद के रहते यह संभव नहीं कि हम तुम्हें जान व समझ सकें. हम विधवाएं मात्र घर की चारदीवारों को ही देखती हैं. क्या हम उसे विश्व या भारत कह सकती हैं? हम इस जेल में पैदा होती हैं, मरती हैं और मर रही हैं.

हे संसार के पिता, क्या तुमने हमें नहीं बनाया? या शायद किसी अन्य ईश्वर ने हमें बनाया? क्या वह केवल पुरुषों का ध्यान रखता है? क्या वह महिलाओं के बारे में नहीं सोचता है? उसने हमें स्त्री व पुरुष क्यों बनाया? ओ सर्वशक्तिमान, क्या ईश्वर के पास यह शक्ति नहीं है कि वह हमें कुछ और बना दे ताकि हम भी जीवन की सुविधाओं में थोड़ा-सा भाग ले सकें. उत्पीड़ितों की आवाज़ यहां भी सुनी जाती है तो क्या तुम दोषियों को सज़ा नहीं दोगे? न्याय का दरवाज़ा कब तक बंद रखोगे? हे सर्वशक्तिमान और अज्ञेय, दया के सागर ईश्वर, हम पर दया करो, हमें याद रखो. हे मालिक, हमें बचाओ, हम अपने इस कठिन भाग्य को नहीं उठा सकती हैं. हममें से अनेक अपने को मार चुकी हैं. हम अभी भी अपने को मार रही हैं. हे दया के ईश्वर, हमारी प्रार्थना है कि भारतीय स्त्री से उसका शाप दूर हो जाए. पुरुष के हृदय में थोड़ी-सी सहानुभूति उपजाओ ताकि हमारी ज़िंदगी रिक्त, अधूरी लालसाओं के साथ ही न गुज़र जाए जो ईश्वर की दया से बची है, जिससे हम ज़िंदगी के आनंद का थोड़ा स्वाद ले सकें.

एक हिंदू पुरुष ने 'द हिंदू विडो' शीर्षक से *द नाइन्टीन्थ सेन्च्युरी* में एक लेख लिखा. अपने कथन की सत्यता हेतु मैं इस पुरुष के लेख में से कुछ साक्ष्य के रुप में उद्धृत करती हूं ताकि ऐसा न लगे कि मैं अपनी विधवा बहनों के द्वारा जीवन भर उठाई जाने वाली दुखपूर्ण घटनाओं को बढ़ा-चढ़ा कर पेश कर रही हूं :

> एक विधवा जिसके माता-पिता नहीं हैं, उसे अपनी ज़िंदगी अपने ससुर के घर में बितानी पड़ती है, आराम कोई चीज़ है इसे उसका पता नहीं चलता. अपने दिवंगत पति के रिश्तेदारों से केवल कठोर दृष्टि एवं अन्यायपूर्ण तिरस्कार मिलता है. उसे दासी की भांति काम करना पड़ता है तथा इस नीरस काम के पुरस्कार के रूप में उसे सास व ननद से घृणा

व नफ़रत ही मिलती है. अगर परिवार की घरेलू व्यवस्था में कोई रोग / अशांति आ जाती है तो दोष विधवा के माथे थोप दिया जाता है. साथ ही गालियां भी सुनती है. हिंदुओं में स्त्रियां पैतृक संपत्ति में हिस्सा नहीं पाती हैं और अगर विधवा के लिए पति संपत्ति छोड़ जाता है तो विधवा उसे अपना नहीं कह सकती. अगर उसे बेटा है तो सारी संपत्ति पुत्र के नाम हो जाती है और पुत्र नहीं है तो उसे उत्तराधिकारी गोद लेना पड़ता है तथा समझदार होने पर उसे सारी संपत्ति देनी होती है तथा विधवा को उस लड़के के द्वारा दिए गए अल्प भत्ते पर जीवन व्यतीत करना होता है. यहां तक कि मृत्यु भी विधवा को अपमान से नहीं बचा सकती. एक पत्नी (जिसका पति ज़िंदा हो) जब मरती है तो उसे उसके कपड़ों के साथ जलाया जाता है, लेकिन विधवा की लाश एक सफ़ेद चादर / कपड़े से ढंकी जाती है तथा उसके दाह-संस्कार के साथ मामूली क्रिया-कर्म किया जाता है.

अंग्रेज़ों ने सती-प्रथा को लगभग समाप्त कर दिया, लेकिन अफ़सोस! न तो अंग्रेज़, न ही देवताओं को यह पता है कि हमारे घरों में क्या हो रहा है? तथा हिंदू न केवल इसकी रक्षा करते हैं अपितु इस प्रथा को अच्छा भी मानते हैं. एक विधवा को मैंने कहते सुना था कि एक हिंदू होने के नाते मैं इससे सहमत हूं कि हिंदुओं में बहुत कम ऐसे लोग हैं, जिन्हें विधवाओं की वास्तविक पीड़ाओं की उचित जानकारी होगी तथा कुछ अभी भी उन बर्बर रिवाज़ों की बुराईयों एवं डरों को जानने की चिंता करते हैं जिन रिवाज़ों ने उनकी अपनी बहनों एवं बेटियों को इस निर्मम तरीके से अपना शिकार बनाया. इससे भी अधिक और उल्टे दकियानूसी हिंदुओं का बहुमत इस प्रथा को अच्छा मानता है. केवल हिंदू विधवा ही अपनी पीड़ाओं को जानती है. किसी अन्य नश्वर प्राणी के लिए, यहां तक कि देवताओं के लिए भी (जैसा कि विधवा कहती है) इन पीड़ाओं को अनुभव कर सकना असंभव है. कोई भी आसानी से यह कल्पना कर सकता है कि विधवाओं का जीवन कितना कठोर हो सकता है -- उपवासों की लंबी श्रृंखला, आत्मपीड़न तथा नफ़रत व दुर्व्यवहार, जो वह अपने परिजनों एवं मित्रों / सहेलियों से प्राप्त करती है. हिंदू विधवा के लिए, मृत्यु दुखमय जीवन के मुक़ाबले हज़ार गुना अधिक स्वागत योग्य होती है. निःसंदेह इस भावना ने अतीत में अनेक विधवाओं को अपने मृत पति की चिता में अपनी बलि देने के लिए प्रवृत्त किया था. (द्रेवेंद्र एन. दास, *द नाइन्टीन्थ सेन्च्युरी*, सितंबर 1886).

सुधारकों का एक वर्ग है, जो यह सोचता है कि वे पुनर्विवाह व्यवस्था की स्थापना कर विधवाओं की स्थिति को सुधार सकेंगे. इस व्यवस्था को

निश्चय ही उन बाल-विधवाओं के हित के लिए शुरू किया जाना चाहिए, जो आगे की उम्र में शादी की इच्छुक हैं, लेकिन इसी समय, यह याद रखना चाहिए कि यह एक प्रयास इनकी स्थितियों को सुधारने के लिए अपर्याप्त है.

प्रथमत: ऊंची जाति के लोगों में विधवा-विवाह को स्वीकृत रिवाज़ बनने में लंबा समय लगेगा. पुराने विचार समाज के मन में इतनी गहराई से जमे हुए हैं कि उन्हें आसानी से नहीं हटाया जा सकता. दूसरा, यहां ऐसे लोग नहीं हैं, जो साहसपूर्वक आगे आएं और विधवाओं से शादी करें. स्वीकृत रिवाज़ के विरुद्ध काम करने के लिए ऊंची-ऊंची बातें कहना एक अलग बात है, लेकिन व्यवहार में लाना एक अलग बात. ऊंची जाति के हिंदुओं में विधवा-विवाह आंदोलन को शुरू हुए लगभग 50 वर्ष हो चुके हैं, लेकिन इसे व्यवहार में लाने वाले बहुत ही कम लोग हैं. मैं सुशिक्षित एवं ऊंची प्रतिष्ठा वाले लोगों को जानती हूं, जिन्होंने ये शपथ ली कि अगर वे विधुर हो जाएंगे तथा दुबारा शादी की इच्छा होगी तो विधवा से शादी करेंगे. लेकिन जैसे ही उनकी पहली पत्नी मरी, उसके साथ ही वे अपनी शपथ के बारे में भूल गए तथा कुंवारी छोटी लड़की से शादी कर ली. समाज ने बिरादरी बाहर करने की बात से धमकाया, मित्रों और परिजनों ने अश्रुपूर्ण विनय की तथा अन्य लोगों ने उन्हें धन और कुंवारी लड़की का प्रस्ताव दिया. क्या रक्त और मांस इन लालचों का विरोध कर सकता है? अगर कुछ लोग अपने विचारों के प्रति सच्चे होने की आशा रखते हैं तो उन्हें शहादत भोगने के लिए तैयार रहना होगा. विधवा से विवाह के बाद यह निश्चित है कि समाज उनसे सारे रिश्ते तोड़ देगा तथा उनके निकटस्थ परिजन भी ऐसा ही करेंगे. ऐसे मामले में कोई भी विश्वस्त हिंदू उन्हें कोई सहायता नहीं देगा, अगर वे अपनी दैनिक जीविका को कमाने में असमर्थ हों या तनाव से गुज़र रहे हों; सभी लोग उनसे घृणा करेंगे और हंसी उड़ाएंगे. संसार में ऐसे कितने लोग हैं, जो चेतना की इस वेदी पर इतना बड़ा त्याग करने को तत्पर हैं? जो व्यक्ति स्थापित रिवाज़ का अतिक्रमण करने का प्रयास करता है, उसके ऊपर होने वाला अत्याचार इतना भारी होता है कि ज़िंदगी बोझ बन जाती है. कुछ वर्ष पूर्व, कच्छ (उत्तरपूर्वी भारत) में एक ऊंची जाति के पुरुष ने विधवा से शादी करने का जोख़िम

उठाया, लेकिन उसके बाद जो अत्याचार हुआ, वह उसकी सहनशक्ति से बाहर था तथा उस बेचारे ने आत्महत्या करके अपनी जीवन-लीला समाप्त कर ली.

अत: पुनर्विवाह न तो प्रचलित है न ही ऐसा संभव दिखता है. अत: बेचारी असहाय हिंदू विधवा से अपने दुखपूर्ण जीवन को समाप्त करने का एकमात्र अवसर सती होना, उससे दूर कर दिया गया तथा वह पुराने समय में धकेल दी गई, जहां उसकी सहायता करने वाला कोई नहीं है.

अध्याय : 7

स्त्रियों की स्थिति से समाज का रिश्ता

जिन लोगों ने स्त्रियों को पूर्ण पराधीनता एवं उपेक्षा की स्थिति में रखने के लिए अपने भरसक प्रयास किए; वे इस बात का ज़ोरदार खंडन करते हैं कि इसने वर्तमान हिंदुस्तान की अवनति में कोई महती भूमिका निभाई हैं. मैं ऐसे अनेक मूढ़मतियों से मिल चुकी हूं, जो महिलाओं को परनिर्भर एवं उपेक्षित बनाए रखने के प्रबल तर्क मेरे सामने प्रस्तुत करते हैं. वे लोग एक उदार सभ्यता की विशाल रोशनी में नहा गए हैं और विज्ञान के कठोर तर्कों के सामने हतप्रभ हैं. साथ ही, दूसरे देशों की हज़ारों औरतों के उदाहरणों ने उनके चिर प्राचीन तर्कों को मात दे दी है. लेकिन उनके भूत हिंदुस्तान की धरती पर अभी भी मंडरा रहे हैं, जो कमज़ोर अज्ञानियों को मृत्यु का भय दिखा रहे हैं. आइए, हम आशा करें कि ईश्वर के अच्छे समय में, यह सभी बुराइयां भारतीय शरीर से हमेशा के लिए दूर हो जाएं. इस बीच हमारा कर्त्तव्य है कि इस मामले पर ज़रा गौर से विचार करें तथा भारत की पुत्रियों के लिए सुख के दिनों को जल्दी प्राप्त कराने के लिए अपना श्रेष्ठ प्रयास प्रस्तुत करें और पुत्री ही क्यों पुत्र के लिए भी; क्योंकि हमारे भाईयों की इस लाख गर्वोक्ति के बावजूद कि वे महिलाओं की अवनति से प्रभावित नहीं हो रहे हैं, उनकी स्थिति भी बदतर ही है.

चूंकि स्त्री और पुरुष मानवीय समाज के एक ही शरीर के हिस्से हैं और साथ ही ये अविभाज्य एकता से जुड़े हैं, अत: उनमें से कोई भी पीड़ा में होगा तो दूसरा भी प्रभावित ही होगा, चाहे वह इसे स्वीकार करे या न करे. जीव-जंतु से लेकर पेड़-पौधों तक में प्रकृति की यह मांग है कि सभी जीवित प्राणी स्वतंत्र रूप से अपनी वृद्धि की परिस्थितियों के साथ अनुकूल विकास करें अन्यथा वे उस रूप को नहीं पा सकेंगे, जो मूलत: उनका आकार है. फिर इस नियम का उल्लंघन क्यों? औरतें *पर्दे* में क्यों? घर की चारदीवारी में सीमित, अपनी पूरी ज़िंदगी खुली हवा में सांस न ले पाने को

मजबूर, वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी कमज़ोर होती जाती हैं. उनकी शारीरिक बनावट क्षीण से क्षीणतर होती जाती है, उनकी भावनाएं समाज के अंधविश्वासों एवं मान्यताओं के बोझ तले दब जाती हैं और उनका मस्तिष्क किसी तरह के विचारों एवं ज्ञान से वंचित रह जाता है, जिससे वह विश्व को देखने-समझने के काबिल नहीं रह पातीं. इस तरह 100 से 90 मामलों में वे स्वार्थी गुलाम की तरह होती हैं जो अपनी छोटी-छोटी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए कुछ भी कर गुज़रने को तैयार रहती हैं तथा अपने पड़ोसी या राष्ट्र के कल्याण के प्रति कुछ भी सोच नहीं पाती हैं. इन क़ैदी माताओं से अपने बच्चों को ढ़ंग से पालने की आशा कैसे की जा सकती है; जैसी मिट्टी व बीज होगा वैसा ही फल प्राप्त होगा. परिणामत: भारत में हम चारों ओर पुरुषों की इस पीढ़ी को देखते हैं जिसमें बहुत कम पुरुष सम्मान के लायक हैं.

"प्रसवपूर्व प्रभाव" का मत भारत में जितने संतोषपूर्ण तरीके से सिद्ध हुआ है, शायद और कहीं नहीं हुआ है. मां की भावनाएं तनाव में होती हैं तथा मस्तिष्क और शरीर उसके जीवन की असक्रियता एवं नीरसता से कमज़ोर हो जाता है. अजन्मा शिशु उसके दुष्परिणामों से नहीं बच सकता है. हिंदुस्तान के पुरुष में सच्ची देशभक्ति की भावना नहीं आती, क्योंकि लड़कपन में वह बेचारी मां इनके भीतर इस प्रवृत्ति को विकसित करने में असफल होती है, क्योंकि वह अपनी मातृभूमि के वर्तमान या अतीत की परिस्थितियों से वाकिफ़ नहीं होती. पड़ोसियों में हमेशा दोष खोजना, कार्यों एवं शब्दों में व्यक्त होने वाले क्रूर परिजनों के प्रति कटुभाव, व्यक्तिगत एवं पारिवारिक मामलों में स्वार्थी हित, ये सभी मुख्य बातें हैं जो संतान अपनी मां के पास बचपन से 7-8 वर्ष का होने तक सीखता है.

फिर यह कैसे संभव होता है कि हर पीढ़ी अपनी पूर्व की पीढ़ी से कमज़ोर होती जाती है. इसका कारण यही तो है कि पुरानी पीढ़ी की शारीरिक व मानसिक शक्ति कम होती है, जिसे बच्चे उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं? पिता शारीरिक व मानसिक रूप से स्वतंत्र एवं स्वस्थ हो सकते हैं, लेकिन माताएं नहीं. वे नि:संदेह अपने बच्चों के लिए कमज़ोरी एव मंदता की विरासत पीछे छोड़ जाती हैं. सदियों से हिंदू आचार-संहिता को पूर्ण रूप से समर्पित ये औरतें दासत्व-प्रिय प्राणियों में बदल गई हैं. किसी पर भी आश्रित और पूर्ण निर्भर होने में उन्हें ख़ुशी होती है और यह प्रवृत्ति उनके

पुत्रों में फलित होकर इच्छा में बदल जाती है जो दूसरे राष्ट्रों पर निर्भर होने में गर्व और संतुष्टि पाते हैं. यह पार्थक्य जिसमें पूर्णत: निर्भरता एवं पूर्ण उपेक्षा हमारे राष्ट्र की माताओं पर थोपी जा चुकी है तथा भाग्यवादी बातें जो पिता के मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य के आधार पर बताई जाती हैं, तथा इसने ऐसे ज़हरीले परिणाम पैदा किए हैं कि यदि समय रहते इनका कोई उपचार नहीं किया गया तो हिंदुस्तान एक दुखद और लंबी मृत्यु के लिए मजबूर हो जाएगा.

इसके अलावा हिंदू स्त्रियों की उपेक्षा उदारमत तथा सुधारवादी पुरुषों को घरेलू आदतों एवं तरीकों में आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने से रोकती है. धर्मांध महिलाएं भी अपने पतियों और पुत्रों को महत्त्वपूर्ण उद्यमों, लाभदायक ज्ञान या व्यापार के उद्देश्य से सागर पार जाने से रोकती हैं.

इसके साथ ही अपने मातृ-कर्त्तव्यों के बारे में अनजान, ख़ासकर सामान्य पोषण संबंधी नियमों से अनजान हिंदू माताएं और भी ज़्यादा निम्न स्तर को प्राप्त होती हैं. यह याद रखना होगा कि वह भी एक लड़की है तथा बच्चे को जन्म देकर मां बनती है. 14, 15 या 16 साल की उम्र में उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपने बच्चों का सही ढंग से ध्यान रखने वाली सभी आवश्यक चीज़ों के बारे में जान जाएगी. इन युवा मांओं का पहला या दूसरा बच्चा प्राय: मर जाता है और वे बचते हैं तो कमज़ोर या बीमार वयस्क के रूप में बड़े होते हैं. जब तक वे 6-8 साल के होते हैं, उनकी देखभाल करने वाला कोई नहीं होता वे उनके स्वयं के भरोसे छोड़ दिए जाते हैं और उनके चरित्र को ढालने में कोई प्रयास जीवन के इस सर्वाधिक रोचक और महत्त्वपूर्ण हिस्से में नहीं किया जाता. क्या कोई बुद्धिमान एवं प्यारी मां यह सभी महत्त्वपूर्ण कार्य इस उम्र में अपने बच्चों के लिए कर सकती है?

इस प्रकार पूर्व (पूरब) की बहनों के वर्ग की स्थिति के प्रति पश्चिमी स्त्रियों का ध्यान दिलाने के इस वृहद उद्यम में, मेरी इच्छा है कि मैं उनका ध्यान हमारी मुख्य आवश्यकता पर केंद्रित करूं. अनेक वर्षों के सजग निरीक्षण एवं चिंतन के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंची हूं कि ऊंची जाति की हिंदू स्त्री की प्रमुख ज़रूरतें हैं: पहली-आत्मनिर्भरता; दूसरी-शिक्षा; तथा तीसरी-देशी स्त्री अध्यापिकाएं.

1. आत्मनिर्भरता -- विधिदाताओं के बताए अनुसार पुरुष जन्म से मृत्यु तक महिलाओं को पूर्ण परनिर्भरता की स्थिति में रखते हैं. यह स्थिति महिलाओं के लिए यह असंभव बना देती है कि वह महिलाएं, जो एक असहाय, परजीवी जीव बन चुकी हैं, बिना सहायता के आत्मनिर्भर बन सकें. भारत में श्रमिक वर्ग की स्त्रियां अपनी ऊंची जाति की बहनों से ज़्यादा बेहतर स्थिति में हैं. अनेक मामलों में वे अपने आप पर निर्भर बनने हेतु बाध्य की जाती हैं तथा इस प्रकार आत्मनिर्भरता के लिए समर्थ बनने का अवसर मिलता है, जिसमें वे ज़्यादा लाभान्वित होती हैं. लेकिन ऊंची जाति की स्त्रियां, घर की चारदीवारी में क़ैद रखी जाती हैं, जब तक कि उनके परिवार उन्हें इस तरह रखने में समर्थ होते हैं. बाद में अगर वे संरक्षक, अर्थात् पुरुष परिजन जो उसकी देखभाल व सहयोग कर सके, के बिना छोड़ दी जाती हैं, तो उन्हें वासतव में नहीं पता होता कि अब वे क्या करें? शुरू-शुरू में उनके साथ इतना निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया जाता है कि उनमें आत्म-निर्भरता, उत्साह एवं शक्ति ही समाप्त हो जाती है. अकर्मण्यता एवं झूठे संकोच की असहाय शिकार स्त्रियां अपनी बुद्धिमत्ता से डरती हैं तथा एक व्यक्ति को प्रगति के रास्ते में निश्चित रूप से जिन समस्याओं और तक़लीफ़ों का सामना करना पड़ता है, दमित स्त्रियों में उनका सामना करने की बिल्कुल ताक़त नहीं होती है. यह आशा करना व्यर्थ है कि देश की स्त्रियों की स्थिति व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता के बिना कभी सुधर पाएगी. इसलिए क्या यह हमारी पश्चिमी बहनों की ज़िम्मेदारी नहीं है कि वे इन्हें सिखाएं कि कैसे आत्मनिर्भर बना जा सकता है?[6]

2. शिक्षा -- भारत में स्त्रियों के मध्य शिक्षा की कमी को हम 1880-81 की जनगणना परिणामों एवं 1883 की शैक्षिक आयोग की रिपोर्ट के सरसरे अवलोकन से स्पष्टतया जान सकते हैं. ब्रिटिश-शासन के अधीन 99,700,000 स्त्रियों एवं लड़कियों में से 99.5 मिलियन पढ़ने व लिखने में असमर्थ हैं. बची हुई 2,00,000 जो पढ़ना-लिखना जानती हैं उन्हें भी शिक्षित नहीं कहा जा सकता है. लड़कियों के लिए स्कूल जाने

6. रमाबाई की अगली किताब जो कि संयुक्त राष्ट्र का मराठी वर्णन है साथ ही इसमें अमरीकी महिला आंदोलनों का विस्तृत वर्णन भी है, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए तैयार की गई है.

का समय प्राय: 6-7 के बीच की उम्र होती है. इस छोटे समय में वे दूसरी-तीसरी कक्षा की देशी भाषाओं की किताब पढ़ने की क्षमता से थोड़ा ही ज्ञान अर्जित कर पाती हैं. इसके साथ अंकगणित की सामान्य जानकारी -- जिसमें चार सामान्य नियम से ज़्यादा और कुछ नहीं होता है -- लड़कियां प्राप्त करती हैं. यह याद रखना चाहिए कि 200,000 स्त्रियां पढ़ने-लिखने में समर्थ हैं. वे सरकारी स्कूलों, मिशन स्कूलों, भारतीय निवासियों, निजी समुदायों तथा जनाना मिशनरीज़ एंजेसी, सभी के द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक चलाए जा रहे निजी स्कूलों की *'भूतपूर्व छात्राएं'* हैं. यह आश्चर्यजनक है कि फिर भी कैसे स्त्रियों की यह छोटी संख्या निर्देशित सीमित ज्ञान को अर्जित कर चुकी है, जबकि हम उन शक्तियों और प्रदेशों की बात कर रहे हैं जो कि भारत में स्त्री शिक्षा के विरुद्ध सतत् रूप से युद्धरत है. 8-10 वर्ष की लड़कियों को जब स्कूलों से निकालकर उनकी शादी करा दी जाती है तो वह पढ़ाई-लिखाई से बिल्कुल कट जाती हैं, क्योंकि किसी भी युवा स्त्री या लड़की के हाथ में किताब या काग़ज़ होना, या अपने पति के घर में अन्य लोगों की उपस्थिति में कुछ पढ़ना शर्मनाक माना जाता था. ऊंची जाति की स्त्रियों के मध्य एक विश्वास फैला हुआ है कि अगर वे पढ़ेंगी या पेन भी पकड़ लेंगी तो उसके पति की मृत्यु हो जाएगी. विधवा होने का डर उनकी ज्ञान पिपासा पर विजय पा लेता है. इसके अतिरिक्त छोटी उम्र की पत्नियां अपने लिए बहुत कम समय प्राप्त कर पाती हैं. और अगर कोई इतनी भाग्यशाली होती है कि अन्य किसी तरह पढ़ने की इच्छा व समय बचा पाती है तो उसे डर रहता है कि कोई उसे देख न ले. उसके काम-काज पर सभी गिद्ध की तरह निगरानी रखते हैं. अत: उसकी पढ़ाई को ज़्यादा लंबे समय तक गुप्त नहीं रखा जा सकता. खोजबीन के बाद उस स्त्री की हंसी व खिल्ली उड़ाई जाती है तथा बड़ों के द्वारा यह आदेश दिया जाता है कि इस मूर्खता को छोड़ दे. उसकी शिक्षा प्राप्ति की आकांक्षा ख़त्म होने के कगार पर होती है जब तक कि बड़ों के द्वारा की गई कार्यवाही में सुधारवादी पति हस्तक्षेप न करें; किंतु अफ़सोस! ऐसे पति बहुत कम हैं. हमारे विद्यालय भी बच्चों के लिए ज़्यादा रुचिकर नहीं हैं. प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षक / शिक्षिकाएं (उन विद्यालयों में जहां लड़कियां पढ़ने को भेजी जाती हैं) नाममात्र को पढ़े-लिखे होते हैं. वे यह नहीं जानते कि पढ़ाई को बच्चों के

लिए रुचिकर कैसे बनाया जाए. परिणामस्वरूप अनेक लड़कियां, जो इन प्राथमिक विद्यालयों में दूसरी या तीसरी कक्षा में पढ़ चुकी हैं, वे अक़सर जल्दी-से-जल्दी अपने याद किए गए पाठों को भूलना एक आदत-सी बना लेती हैं. संसार से अलग तथा उपयोगी किताबों एवं समाचार पत्रों को पढ़ने से वंचित रहने के कारण वह अपने चारों ओर की और उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं जो कि प्रतिदिन उनकी या विदेशी भूमि पर घटित होती है, के बारे में बहुत कम ही जानती हैं. उपेक्षित, देशद्रोही, स्वार्थी तथा असभ्य स्त्रियां पुरुषों को अपने साथ नीचे रसातल में खींच लेती हैं, जहां वे आशाहीन, कुछ करने की महत्त्वाकांक्षा से रहित या संसार में कुछ कर गुज़रने की इच्छा से रहित होकर विचरण करते हैं.

3. **देशी स्त्री अध्यापिकाएं** -- अमेरिकी और अंग्रेज़ी महिलाएं जनाना मिशनरीज़ के रूप में भारत की बेटियों को जागृत एवं उन्नत करने के लिए जो कुछ कर सकती है, कर रही हैं. ये अच्छे लोग सम्मान व प्रशंसा के पात्र हैं तथा हार्दिक धन्यवाद उन्हें भी, जिनकी उन्नति के लिए उन्होंने इतनी कड़ी मेहनत की. लेकिन अप्रीतिकर वातावरण की अक्षमताओं तथा अनजानी भाषा ने उनके लिए भारत में पहुंचने के तुरंत बाद अपने कार्यों में लग जाने को कठिन बना दिया है. साथ ही इतनी विशाल अनपढ़ और शोषित महिलाओं की आबादी के बीच उनकी संख्या कितनी नगण्य है. उनकी कम संख्या सैकड़ों मिलियन औरतों के बीच गुम हो जाती है. अमेरिका और इंग्लैंड में हमने मिशन कार्यों की उत्साहवर्धक रिपोर्ट सुनी है जो यह दर्शाती है कि हिंदू एवं मुस्लिमों की कुछ हज़ार स्त्रियां व लड़कियां उनके घरों या स्कूलों में पढ़ाई जा रही हैं. लेकिन हिंदुस्तान की स्त्रियों की बहुसंख्या की तुलना में तो यह कुछ भी नहीं है. एक ऐसे देश में जहां जाति और स्त्रियों का पार्थक्य राष्ट्रीय धर्ममत के अनिवार्य अभिमत की भांति स्वीकार किया जाता है, वहां हम इस बात की बहुत कम आशा कर सकते हैं कि स्त्रियों के मध्य उपयोगी ज्ञान का सामान्य प्रसार हो पाएगा. चाहे फिर वह यहीं के पुरुषों द्वारा या विदेशी महिलाओं द्वारा हो. मानव इतिहास के सभी अनुभव यह दिखाते हैं कि राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रयास उसके भीतर से तथा कार्य बाहर की ओर प्रभावपूर्ण होने चाहिए.

इसलिए भारत में स्त्रियों के लिए शिक्षा के प्रसार के लिए एक बात

आवश्यक है कि उन्हीं में से कोई स्त्री निकलकर आए, जो अपने कथन एवं उदाहरण द्वारा इस संदेश को अपनी साथी महिलाओं तक पहुंचाने को अपना जीवनकार्य बना ले.

अध्याय : 8

अपील

पिछले अध्यायों में मैंने अपने पाठकों को मेरे देश की स्त्रियों की दारुण कथा को संक्षिप्त रूप में बताने की कोशिश की. साथ ही इस ओर भी ध्यान खींचना चाहा कि हमारी प्रमुख आवश्यकताएं क्या हैं. हम भारत की स्त्रियां ज्ञान पाने के लिए आतुर हैं; ईश्वर की कृपा से केवल शिक्षा ही हमें वह आवश्यक शक्ति दे सकती है, जिससे हम अपनी अवनत स्थिति से ऊपर उठ सकें.

हमारी सबसे प्रबल मांग है जो कि तत्काल पूरी होनी चाहिए -- वह है हमारी राष्ट्रीयता की स्त्री अध्यापिकाएं. इन स्त्री अध्यापिकाओं की पूर्ति कैसे की जा सकती है? मैंने इस मुद्दे पर लंबे समय तक सोचा है और अब मैं इसका उत्तर देने के लिए तैयार हूं. भारत के निवासियों के मध्य, ऊंची जाति के लोग सर्वाधिक बुद्धिमान माने जाते हैं. दो हज़ार से अधिक सालों से यह शिक्षित व सभ्य नस्ल रही हैं. इस जाति की स्त्रियां उपेक्षित रही हैं और आज भी हैं. इसके बावजूद एक हद तक बुद्धि व तीव्र ग्रहणशीलता इन्हें अपने पिता से उत्तराधिकार में मिली है. थोड़ा-सा ध्यान और विवेक सम्मत शिक्षा उन्हें प्रदान की जाए तो उनमें से अनेक योग्य अध्यापिकाएं एवं कार्यकर्ता बन जाएंगी. यह कथन काल्पनिक नहीं है. यह चंद्रमुखी बोस, एम. ए. जो अभी बेथुने स्कूल कलकत्ता की प्राध्यापिका हैं, के उचित प्रशिक्षण के संतुष्टिपरक परिणामों से सिद्ध से चुका है.कादंबिनी बी. गांगुली बी. ए. एम. बी. और कुछ अन्य भी हैं, जो कलकत्ता विश्वविद्यालय की परीक्षाओं को सफलतापूर्वक उत्तीर्ण कर चुकी हैं. पेन्सिलवेनिया के महिला मेडिकल कॉलेज की व्याख्याता स्व. डॉ. आनंदी बाई जोशी की प्रतिभा गवाह है. अगर उनकी ज़िंदगी थोड़ी और लंबी होती तो वह दुनिया को दिखा चुकी होतीं कि हिंदू स्त्री, सभी कमियों के बावजूद, किसी भी सभ्य देश की महिलाओं के बराबर है.

पुन: 1881 की जनगणना के अनुसार भारत में 2,09,30,626 सभी उम्र व जाति की विधवाएं हैं. इनमें से 6,69,100 विधवाएं 19 साल से कम उम्र की है, उदाहरण --

9 वर्ष और उससे कम	78,976
10-14 वर्ष की	2,07,388
15-19 वर्ष	3,82,736
	6,69,100

9,10, या 13 साल की लड़कियां जिनके पति मर चुके हैं, वे कुंवारी विधवाएं हैं. अगर ये ऊंची जाति के परिवारों से हैं तो उन्हें आज़ीवन अकेले रहना पड़ेगा. अगर इस समय ऐसी शैक्षणिक संस्थाएं हों, जहां तरुण विधवाएं -- जो अपने रिश्तेदारों से स्वतंत्र होने की इच्छा रखती हैं और अपने लिए सम्मानित ज़िंदगी बनाना चाहती हैं -- जा सकें और हस्तकौशल की जानकारी पा सकें, तथा अध्ययन कर सकें तो उनके जीवन की भयावहता तो कम होगी ही साथ ही ये विधवाएं अपने देश की महिलाओं के लिए सुखद भेंट भी सिद्ध होंगी. किंतु अफ़सोस! भारत में कहीं भी ऐसे संस्थानों को स्थापित नहीं किया गया है, जहां ऊंची जाति की विधवाएं आश्रय और शिक्षा प्राप्त कर सकें.

1866 में एक प्रतिष्ठित अंग्रेज़ महिला सुश्री मैरी कारपेंटर ने इस दृष्टिकोण के साथ भारत की एक छोटी यात्रा की कि इस देश में स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए कोई रास्ता खोजना चाहिए. उसने तत्काल यह पाया कि इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो प्रमुख माध्यम हो सकता है, वह है हिंदू स्त्रियों में से शिक्षिकाओं का तैयार होना. उन्होंने सुझाव दिया कि ब्रिटिश सरकार को स्त्री अध्यापिकाओं के प्रशिक्षण के लिए सामान्य विद्यालय स्थापित करने चाहिए. साथ ही लड़कियों की स्कूल जाने की अवधि बढ़ाने तथा ग़रीब स्त्रियों की सहायता के लिए, जो इसके बिना अपनी पढ़ाई ज़ारी रखने में असमर्थ होंगी, छात्रवृत्ति प्रदान की जानी चाहिए. इंग्लैंड पहुंचने पर मिस कारपेंटर की अपील की प्रतिक्रिया में ब्रिटिश सरकार ने भारत में स्त्रियों के लिए अनेक स्कूलों को स्थापित किया तथा इस भद्र महिला के सम्मान में कुछ परोपकारी लोगों ने 'मेरी कारपेंटर छात्रवृत्तियां' भी प्रदान

कीं. ये स्कूल जिनका निरीक्षण मैंने भी किया है. हर जाति की स्त्रियों के लिए खुले हैं और नि:संदेह उन्होंने इच्छित भूमिकाएं निभाई हैं, परंतु अपने संस्थापकों के उद्देश्य को ठीक से पूरा करने में असमर्थ रही हैं. इसका कारण जाति नियमों को बनाए रखने की असंभाव्यता और नियमित उपस्थिति बनाए रखने के लिए आवश्यक व्यवस्था का अभाव है. जब ऊंची जाति की एक हिंदू विधवा स्कूल जाने का निर्णय लेती है तो कुछ अपवादों को छोड़कर, जो नगण्य होते हैं, वह अपने रिश्तेदारों से किसी भी प्रकार की मदद की आशा नहीं कर सकती. उसे निर्धन, असहाय, हतभाग्य प्राणी की भांति संसार में छोड़ दिया जाता है. अगर फिर भी वह इतनी भाग्यशाली है कि उसे सामान्य स्कूल में आश्रय मिल सके और छात्रवृत्ति हासिल हो सके तो यह उसे भूख से दूर रखने के लिए पर्याप्त नहीं होती. यह राशि 12 से 20-25 डॉलर प्रतिवर्ष हो सकती है, लेकिन उसे शिक्षा-विभाग द्वारा दी जाने वाली यह अल्पराशि तब तक नहीं दी जाएगी, जब तक कि वह निर्धारित परीक्षा उत्तीर्ण नहीं कर लेती. एक निरक्षर विधवा परीक्षा को पास करने की आशा कैसे कर सकती है?

महिलाओं के लिए इन सरकारी सामान्य स्कूलों के अलावा, जिनकी संख्या अभी लगभग 6 है, कुछ विदेशी मिशनरीज़ स्कूल भी हैं, जहां स्त्रियां आश्रय और दिशा-निर्देश पा सकती हैं. लेकिन अगर वह विश्वासों में रुढ़िवादी हिंदू हैं और सम्मानित परिवार से हैं तो वह दूसरे धर्म और देश के लोगों के आश्रय में जाने की सोच भी नहीं सकतीं. इसके अपवाद भी हैं, लेकिन नियमत: ऊंची जाति की हिंदू स्त्री इसके विकल्प में मृत्यु को प्राथमिकता देती है. वह जानती है कि अगर वह मिशनरीज़ के साथ रहने जाती है तो वह अपनी जाति खो देगी. उसे बाइबिल पढ़नी होगी और शायद अंत में उसे अपने प्राचीन विश्वास को त्यागने और एक दूसरे विश्वास को अपनाने की ओर प्रवृत्त किया जाएगा. किसी भी धर्म की स्त्री, जो उसमें विश्वास करती है, चाहे किसी को यह बात झूठी लगे चाहे सच्ची, लेकिन वह भोजन और आश्रय के लिए अपनी चेतना का उल्लंघन नहीं करेगी. नि:संदेह, शपथपूर्वक किसी धर्म को स्वीकार करने हेतु प्रेरित करने का भय जो बातों द्वारा फैलता है, उसने अनेक श्रेष्ठ हिंदू विधवाओं को विदेशी मिशनरीज़ स्कूलों में जाने से रोका है. वह ईमानदारी से विश्वास करती है कि अगर उसकी ज़िंदगी

घरेलू दुखों से असहनीय हो जाएगी तो वह अपने आप को किसी पवित्र नदी में डाल देगी (पवित्र नदी में कूद जाएगी) जिससे वह न केवल ज़िंदगी की भाग्यहीनता से ख़ुद को बचा लेगी, अपितु उसके पिछले सारे पाप माफ़ कर दिए जाएंगे तथा स्वर्ग में स्थान सुरक्षित हो जाएगा. परंतु अपने प्राचीन धर्म का किसी भी परिस्थिति में उल्लंघन करने पर उसे फिर से इस संसार में आकर जीवनपर्यंत दुख भोगना होगा.

तब क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है जिससे ऊंची जाति की विधवाओं को शिक्षा व सहयोग प्रदान किया जा सके? क्या इनमें से कोई भी बाधाएं उसके रास्ते से नहीं हटाई जा सकतीं? हां, वे हटाई जा सकती हैं और जो रास्ता अपनाया जा सकता है, वह निम्न है:--

1. युवा और ऊंची जाति की बाल-विधवाओं के लिए आवास की व्यवस्था की जानी चाहिए, जहां वे अपनी जाति को गंवाने के डर या अपने धार्मिक विश्वासों से च्युत होने की आशंका के बिना आश्रय ले सकें तथा जहां उनको कार्य करने की पूरी छूट हो. उन्हें जातिगत नियमों से संबंधित व्यवहार करने की पूर्णत: छूट हो.

2. एक सम्मानित व स्वतंत्र आजीविका कमाने के लिए उन्हें उन घरों में शिक्षिकाओं, गवर्नेस, नर्सों और हाउस-कीपर्स आदि की शिक्षा दी जानी चाहिए, जिसमें उनकी रुचि और सामर्थ्य दोनों का ध्यान रखा जाए. साथ ही हस्तकौशल पर भी ध्यान देना चाहिए.

3. ये आवास प्रभावी हिंदू औरतों एवं पुरुषों (सज्जनों) की निगरानी एवं व्यवस्था के अधीन होने चाहिए, जो प्रत्येक आवास को एक ख़ुशहाल घर तथा एक निर्देशक संस्था बनाने का वचन दे सकें.

4. पश्चिमी एवं पूर्वी सभ्यता और शिक्षा के सम्मिलित लाभ को आवासों में रहने वाली इन स्त्रियों को देने के लिए योग्य अमेरिकन स्त्रियों को सहायिका एवं अध्यापिकाओं के रूप में सुनिश्चित करना चाहिए.

5. इन आवासों में धर्म, कला, विज्ञान, इतिहास पर श्रेष्ठ पुस्तकों को समाहित करने वाले पुस्तकालय तथा साहित्य के अन्य विभागों को स्थापित करना चाहिए ताकि इसमें निवास करने वाली स्त्रियां और आस-पड़ोस की स्त्रियां, जो पढ़ने की इच्छुक हैं, इसका लाभ उठा सकें. पुस्तकालयों में प्राध्यापक पद भी निर्मित किए जाने चाहिए तथा व्याख्यान विभिन्न विचारों को सम्मिलित करने वाला होना चाहिए. उन्हें आवास या पुस्तकालय में व्याख्यान देते समय किसी भी धर्म या पवित्र रिवाज़ के प्रति अवमानना से

> नहीं बोलना चाहिए. व्याख्याताओं को अपने विषयों में भूगोल, प्रारंभिक विज्ञान, विदेशी भाषा इत्यादि को शामिल करना चाहिए. साथ में व्याख्यानों को इस तरह तैयार करना चाहिए जिससे वह उन स्त्रियों के आंख-कान खोल सकें (उन्हें जागरूक व सचेत बना सकें) जो उपेक्षा के क़ैदखाने में लंबी अवधि बिता चुकी हैं और ईश्वर के इस ख़ूबसूरत संसार के बारे में वास्तव में कुछ भी नहीं जानती हैं.

अपनी घर वापसी के बाद मेरा उद्देश्य है (मेरा विश्वास है कि आज से एक वर्ष के भीतर) कि कम-से-कम एक ऐसा संस्थान स्थापित करूं. इस कोशिश के लिए आवश्यक उत्तरदायित्वों से भली-भांति वाकिफ़ हूं. हो सकता है मैं इसमें असफल रहूं, लेकिन किसी-न-किसी को तो शुरुआत करनी ही होगी. अत: ईश्वर में विश्वास करते हुए मैं प्रयास करने को दृढ़प्रतिज्ञ हूं. जो मेरे देश की स्त्रियों की आवश्यकताओं को जानता है, वह ईश्वर मेरे इस काम में सहयोग करने के लिए योग्य कार्यकर्ताओं को आगे लाएगा फिर चाहे मैं इस दिशा में सफल रहूं या नहीं. मेरे देश की जनता का बहुमत स्त्रियों को शिक्षा देने का कड़ा विरोध करता है, मुझे उनसे अच्छे शब्दों या विशेष सहयोग मिलने की आशा क्षीण है.

वर्तमान में इस मुद्दे के संबंध में ऊंची जाति के हिंदू सज्जनों के साथ तर्क करना व्यर्थ है, वे केवल प्रस्तावों की हंसी उड़ाते हैं या चुपचाप इनकी उपेक्षा करते हैं. लेकिन उनमें से कुछ ऐसे भी हैं, जो विचारों को स्वीकृति देंगे और कार्यरूप में परिणत करने के लिए सहायता भी करेंगे. लेकिन उन्हें पहले इसके लाभ और बेहतर परिणाम का विश्वास दिलाने की ज़रूरत है. किसी के पास यह चमत्कारिक शक्ति होनी चाहिए ताकि इस वर्ग के लोगों को इस बात के लिए राज़ी किया जा सके तथा वे इस दिशा में सोचें कि समाज का कल्याण स्त्रियों की उन्नति के द्वारा ही हो सकता है. मैं विश्वास करती हूं कि यह चमत्कार अगले दस सालों के समाप्त होने से पूर्व भारत में दिखाई देने लगेगा. अगर यह सत्य सिद्ध हो गया तो उस समयावधि के बाद केवल देशी सहायता के साथ प्रयास आत्मनिर्भर सिद्ध होंगे. यहां अभी भी मुट्ठी भर हिंदू हैं जो प्रगतिशील विचारों के समर्थक हैं, वे हिंदुस्तान के सामाजिक व धार्मिक रिवाज़ों को सुधारने के लिए जो कुछ कर सकते हैं, कर रहे हैं. नि:संदेह ये सभी मेरे कार्य के प्रारंभ में मेरी सहायता करेंगे, लेकिन अपनी भौतिक सुविधाओं के अलावा उनके पास और कुछ नहीं है

जिससे वह सहायता के लिए आगे आएं.

इस प्रकार का संस्थान, जहां स्त्रियों को उनके सहयोग एवं विदेशी शिक्षिकाओं को उनकी सेवाओं के लिए उदारता से भुगतान देना पड़ेगा, वह बिना राशि के न तो स्थापित किया जा सकता है और न ही उसके बाद विकसित अवस्था में रखा जा सकता है. इसलिए मैं संयुक्त राष्ट्र के सभी स्त्री-पुरुषों से अनुरोध करती हूं कि वे मुझे इस पवित्र कार्य हेतु उदारतापूर्वक जितना भी संभव हो सके उतनी सहायता करें और साथ ही इस समृद्ध धरती पर जन्मी प्रतिभा को मेरे इस शैक्षिक आंदोलन में सहयोग के लिए आगे बढ़ने को प्रेरित करें. मैं यह अपील करने का दुस्साहस इसलिए कर पा रही हूं, क्योंकि मैं विश्वास करती हूं कि जो ईसा मसीह के उपदेशों में विश्वास करते हैं और जो लाखों रुपए एवं सैकड़ों जीवन देने को तैयार रहते हैं, अपनी इस मूल्यवान धरोहर को फैलाने का काम, वे औरतों को बिना उचित शिक्षा दिए बग़ैर कैसे कर सकते हैं? इसलिए अगर आप चाहते हैं कि ईसा के मूल्यवान शब्द दूसरे कोने तक भी पहुंचें तो आपको उस कोने में शिक्षा की रोशनी जलानी होगी.

(संयुक्त राष्ट्र के) माताओं और पिताओ, अंगीठी के शानदार कार्निस के पास बैठी अपनी ख़ुद की प्यारी बेटी की तुलना भारत की इसी उम्र की उन लाखों छोटी लड़कियों से करिए जो पहले ही अमानवीय सामाजिक रिवाज़ की अपवित्र वेदी पर अपना बलिदान कर चुकी हैं और तब अपने आप से पूछिए कि उन छोटी विधवाओं को उनके उत्पीड़कों के चंगुल से बचाने के लिए क्या आप कुछ कर सकते हैं. पत्थर की दीवारों के भीतर से भारतीय स्त्रियों की हृदयविदारक चीख़ें प्रतिदिन उठ रही हैं. हज़ारों बाल-विधवाएं हर साल अपने मन को प्रफुल्लित करने की आशा के बिना मर रही हैं तथा हज़ारों दूसरी पाप और शर्म के भयानक भार के नीचे कुचली जा रही हैं. कोई भी ऐसा नहीं है, जो उनको बेहतर रास्ता उपलब्ध कराकर उनके पतन को रोक सके.

आप सभी जो इस पुस्तक को पढ़ रहे हैं, मेरे देश की स्त्रियों के बारे में सोचिए और जागिए; एक सामान्य भाव से उन्हें आजीवन दासता एवं नारकीय दुखों से मुक्त करने के लिए आगे बढ़िए; क्या आप नहीं आएंगे? मित्रों और हितैषी लोगो, शिक्षित जनों एवं मानवतावादियों, मैं आपसे

प्रार्थना करती हूं कि आप सभी जो इसमें रुचि रखते हों या अपने साथी के प्रति दया रखते हों भारतीय पुत्रियों के रुदन की चीख़ें -- चाहे वह क्षीण ही क्यों न हो-अपने कानों तक पहुंचने दें और अपने हृदय को झकझोर्ने दें. मानवता के नाम पर एक कार्यकर्ता की भांति अपने पवित्र उत्तरदायित्वों के नाम पर, इन सबसे आगे ईश्वर के पवित्र नाम पर मैं सच्चे अमेरिकी स्त्री-पुरुषों का आह्वान करती हूं कि वे राष्ट्र, जाति और मत से ऊपर उठकर अपनी सेवाएं तत्परता से अर्पित करें.

परिशिष्ट

रमा बाई : एक परिचय

अनंत डोंगरे कोंकणस्थ चितपावन ब्राह्मण थे. उनका जन्म पश्चिमी घाट के निचले छोर पर बसे मल्हेराम्बी गांव में हुआ. यह मंगलौर जिले में पड़ता था. ये माध्व संप्रदाय के वैष्णव थे. ज्ञान की पिपासा ने उन्हें घर छोड़ने को मज़बूर किया, वे शृंगेरी के शंकराचार्य के मठ में एक संस्कृत पंडित के साथ जाकर रहे और संस्कृत की विधिवत शिक्षा ली. वहां से वे पंडित रामचंद्र शास्त्री के पास पूना आ गए. यहां इनसे अनंत डोंगरे को 'शास्त्री' की उपाधि मिली. इनका विवाह बचपन में हो चुका था. इनकी पहली पत्नी का नाम यमुनाबाई था. अपनी पत्नी को इन्होंने संस्कृत पढ़ाने का प्रयत्न किया मगर यह कोशिश छोड़नी पड़ी. मैसूर के राजा के दरबार में दस साल तक रहने के बाद वहां के महाराजा कृष्णराज वड़ियार ने 25000 रुपए इन्हें उपहार में दिए. गांव आकर अपने पिता के सारे क़र्ज़े चुकाकर पूरे परिवार के साथ तीर्थयात्रा पर निकल पड़े. दुर्भाग्य से यमुनाबाई की मृत्यु तीर्थयात्रा में ही हो गई. इसके बाद इन्होंने पूरे परिवार को वापस गांव भेज दिया, लेकिन यात्रा जारी रखी.

अपनी घर-वापसी के दौरान वे पैठाण में रुके जो गोदावरी के तट पर बसा एक तीर्थस्थल है. उसी समय माधवराव अभ्यंकर नामक एक दूसरे तीर्थयात्री भी अपनी पत्नी, नौ व सात साल की दो बेटियों के साथ वहां पहुंचे. एक सुबह माधवराव की दृष्टि सुंदर शरीर वाले, नदी में स्नानरत अनंत शास्त्री पर पड़ी. कुछ देर बाद माधवराव उनके पास गए, उनकी जाति, गोत्र, स्थान के बारे में पूछा. विधुर होने की जानकारी के बाद माधवराव ने अपनी नौ साल की बेटी से विवाह का प्रस्ताव रखा. एक घंटे में सब कुछ तय हो गया और अगले दिन विवाह संपन्न हो गया. माधवराव विवाह के दूसरे दिन अपनी आगे की तीर्थयात्रा पर चले गए. इस विचित्र विवाह में दूल्हे अनंत

शास्त्री की उम्र 44 साल और दुल्हन लक्ष्मी बाई की उम्र 9 साल थी और यही पंडिता रमा बाई के माता-पिता थे.

अनंत शास्त्री स्त्री शिक्षा के पक्षधर थे. उन्होंने लक्ष्मीबाई को संस्कृत सिखाना प्रारंभ किया. इन्हें काफ़ी विरोध का सामना करना पड़ा और एक धर्मसभा में इन्होंने अपने पक्ष और दृष्टिकोण को सही मनवाने में विजय प्राप्त भी की. मगर लोगों के व्यवहार से क्षुब्ध होकर इन्होंने गंगामूल के जंगल को नया निवास-स्थान बनाया. यह पश्चिमी घाट की चोटी पर समुद्र-तल से 4 हज़ार फीट ऊंचाई पर बसा घना जंगल है. मैसूर राज्य के प्रसिद्ध जैन-तीर्थ करकल से 10 मील और मंगलौर से 30 मील दूर पड़ता है. यहां से तुंगभद्रा और नेत्रवती नदियां निकलती हैं. शुरुआती दौर की मुसीबतों के बाद यह जगह एक संस्कृत केंद्र के रूप में उभरने लगी.

अनंत शास्त्री की छह संतानें हुईं, जिनमें से तीन बचपन में गुज़र गईं. तीन जीवित संतानों में सबसे बड़ी तुंगभद्रा थी, जिसे कृष्णाबाई भी कहते हैं. उसके बाद भाई नारायण या श्रीनिवास और अंत में रमाबाई. इसी दौरान लक्ष्मी बाई ने शिक्षण और अन्य कार्य सुचारू रूप से जारी रखे. कुछ परिस्थितियों के चलते अनंत शास्त्री की आर्थिक स्थिति जर्जर हो गई और कठोर शारीरिक श्रम ने शरीर को कमज़ोर कर दिया. अंतत: यह स्थान छोड़कर इन लोगों का तीर्थयात्रा का जीवन शुरू हुआ.

इस यात्रा के दौरान अनंत शास्त्री पौराणिक की वृत्ति अपनाए हुए थे. पूरा परिवार उसी पर आश्रित था. बच्चों की शिक्षा भी इसी माहौल में हो रही थी. रमाबाई को आठ वर्ष की उम्र से ही मां ने पढ़ाना प्रारंभ किया और 15 वर्ष की उम्र तक यह सिलसिला चलता रहा. सभी की पढ़ाई संस्कृत में ही हुई. सभी संतानों का पालन-पोषण कट्टर हिंदू मान्यताओं के अनुसार होता रहा.

जातिगत बंधन के दबाव में कृष्णा बाई का विवाह बचपन में कर दिया गया. शादी के समय तय हुआ कि लड़का ससुराल में रहकर पत्नी के साथ शिक्षा-दीक्षा पूरी करेगा. विवाह होते ही वर-पक्ष मुकर गया, लड़का अपने परिजनों के साथ चला गया और अनपढ़ ही रह गया. कृष्णा बाई सुसंस्कृत-होनहार युवती निकलीं. तेरह साल बाद पति उसे लेने आया. अनंत शास्त्री ने मना कर दिया. रूढ़िवादी लोगों ने पैसा इकट्ठा कर उस लड़के को अनंत

शास्त्री के ख़िलाफ़ मुक़दमे के लिए उकसाया. आशंकानुसार ब्रिटिश-सरकार की अदालत ने सामाजिक-धार्मिक मामले में हस्तक्षेप न करने की अपनी नीति पर चलते हुए हिंदू-धर्म के विधान के अनुसार लड़के के पक्ष में निर्णय दिया. इस दुखदाई अनुभव ने रमाबाई के अभिभावकों को सिखाया कि बाल-विवाह उचित नहीं है. यद्यपि श्रीनिवास का विवाह भी बचपन में कर दिया गया था. लेकिन अनंत शास्त्री ने धारा के विरुद्ध जाकर रमाबाई का बाल-विवाह नहीं किया!

तीर्थयात्रा के जीवन में रमाबाई ने संपूर्ण भारत में स्त्रियों की दशा को अपनी आंखों से देखा और महसूस किया कि शिक्षा ही इन स्त्रियों के जीवन की नई संभावनाओं का द्वार खोल सकती है. इस यात्रा के दौरान अनंत शास्त्री 75 साल के हो चले थे. पुराण-वाचन से मिलने वाली दक्षिणा कम होती जा रही थी. परिवार की स्थिति अकाल-पीड़ितों की तरह हो गई. उन दिनों ये लोग तिरुपति में थे और मद्रास-प्रेसिडेंसी में अकाल पड़ा था. अनंत शास्त्री ने जंगल में जाकर प्राण त्यागने को बेहतर समझा. वेंकटगिरि के घने जंगलों में ग्यारह दिन और रात पानी, जंगली बेर और सूखी पत्तियों पर गुज़ारा किया. सारे परिवार ने जल-समाधि लेने का निर्णय लिया, क्योंकि यह धर्मसम्मत थी. इस भयानक स्थिति में श्रीनिवास ने कहा वह कोई-न-कोई काम करेगा, सबको मरने नहीं देगा. पास के गांव में कोई शरण न मिलने पर एक टूटे-फूटे प्राचीन मंदिर में शरण ली. पंडित अनंत शास्त्री डोंगरे की मृत्यु अत्यंत दयनीय स्थिति में हुई. उनके पार्थिव शरीर को ले जाने वाले भी केवल दो प्राणी -- श्रीनिवास व रमा बाई थे. श्रीनिवास अकेला दो मील दूर अपने पिता के शरीर को ले गया. पिता की मृत्यु के बाद तीनों रायचूड़ पहुंचे, यहां रहते हुए कुछ ही दिन में लक्ष्मी बाई की भी मृत्यु हो गई. रमा बाई ने अपनी मां की अर्थी को कंधा दिया था. माता-पिता की मृत्यु के बाद कृष्णा बाई को पति के पास जाना पड़ा, परंतु वह ज़्यादा दिन तक जीवित न रह सकी. हैजे से उसकी मृत्यु हो गई.

माता-पिता की मृत्यु के बाद दोनों भाई-बहन काम की तलाश करने लगे लेकिन आय बहुत कम थी. अधिकांश समय भूखे रहना होता था. इस दौरान भी भ्रमण जारी रहा.

6 अगस्त, 1878 को दोनों भाई-बहन कलकत्ता पहुंचे, जो अनेक

दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था. यहां दोनों का परिचय बंगाली भद्रलोक से हुआ. बंगाल के स्त्री-शिक्षा के पक्षधर उदारवादी सुधारकों ने खुले दिल से रमाबाई का स्वागत किया. अपने संस्कृत-ज्ञान की परीक्षा के लिए रमा बाई ने विद्वानों की समिति के समक्ष अपनी योग्यता सिद्ध की और 'सरस्वती' की उपाधि से विभूषित हुईं. कुछ समय बाद बंगाल के हिंदू नेता महाराजा ज्योतींद्र मोहन ठाकुर ने एक आयोजन में 'पंडिता' की उपाधि रमा बाई को दी. इसी दौरान पंडिता रमा बाई ने स्त्री-शिक्षा, आर्य-जाति का उत्थान और पतन, हिंदू स्त्री की स्थिति आदि विषयों पर घूम-घूमकर भाषण दिए. रमाबाई ब्रह्म समाज से प्रभावित थीं मगर एक सीमा तक ही. इसी बीच महाराजा ज्योतींद्र मोहन ठाकुर, आनंदमोहन बोस, केशवचंद्र सेन, कालीचरण बनर्जी, कृष्णमोहन बनर्जी, शशिपदा बनर्जी, द्वारकानाथ गांगुली जैसे महापुरुषों का सहयोग और निर्देशन रमा बाई को प्राप्त हुआ. अपने कलकत्ता-प्रवास में रमा बाई ने धर्मशास्त्र व सहायक ग्रंथ पढ़े. विभिन्न भाषणों की तैयारी के क्रम में हिंदू क़ानून की किताबों का अध्ययन किया. केशवचंद्र सेन ने एक भेंट में रमा बाई को वेद और उपनिषद् पढ़ने की सलाह दी. कलकत्ता में रहते समय ही एक बार रमा बाई व श्रीनिवास को ईसाईयों की सभा में जाने का निमंत्रण मिला और वहां संस्कृत में अनूदित पवित्र बाइबल की प्रति भी दी गई.

इसके बाद रमा बाई असम के गौहाटी, शिलांग, सिलहट जैसे प्रमुख शहरों के अलावा छोटे-छोटे गांवों में भी गईं. यह 1879 ई. के गर्मी के दिन थे. शिलांग यात्रा के दौरान 'सुबोध पत्रिका' ने रमा बाई से महाराष्ट्र आने व कार्य करने की बात कही. इसी असम-यात्रा में रमा बाई की मुलाक़ात श्री विपिन बिहारी दास से हुई, जिनसे आगे चलकर उनका विवाह हुआ. असम-यात्रा के दौरान सिलहट में दोनों भाई-बहन दस महीने रुके. श्रीनिवास व विपिन बाबू में गहरी दोस्ती हो गई. बाद में ढाका आने का प्रस्ताव रमा बाई को प्राप्त हुआ. इस यात्रा में श्रीनिवास गंभीर रूप से बीमार पड़ गए. 8 मई, 1880 को श्रीनिवास की मृत्यु हो गई. तीन महीने बाद बाबू विपिन बिहारी रमा बाई से मिलने कलकत्ता आए. रमा बाई ने उनसे विवाह करने का निर्णय लिया. बांकीपुर कोर्ट में विवाह हुआ. विपिन बिहारी अत्यंत नम्र और उदार व्यक्ति थे. ब्रह्म-समाजी थे, लिहाजा विचारों से प्रगतिशील थे. वे गौहाटी के स्कूल में हेडमास्टर थे. उन्होंने बांग्ला में 'रसायनशास्त्र का परिचय' नामक किताब लिखी थी. बांग्ला में यह अपनी तरह की पहली किताब थी.

इस विवाह को लेकर लोगों ने आपत्ति उठाई, क्योंकि यह अंतर्जातीय विवाह था. बाबू विपिन बिहारी असम के कायस्थ थे, जिसे शूद्र समझा जाता था. उन्हें उनके अपने समाज ने लगभग बहिष्कृत कर दिया. उनकी मौसेरी बहन श्रीमती कृष्णप्रिया चौधरानी, जो ख़ुद प्रदेश की पहली महिला लेखिका थीं, ने उनका साथ दिया. पति-पत्नी ने विवाह पर उठने वाली आलोचनात्मक प्रतिक्रियाओं का सामना किया और उत्साहपूर्वक अपने दांपत्य जीवन की शुरुआत की. विपिन बाबू सिलचर आकर वकालत करने लगे. इसी बीच रमा बाई का अध्ययन लगातार चलता रहा. इस दंपति के घर पुत्री का जन्म हुआ. नाम रखा गया -- मनोरमा. वे उसे मानो कहकर पुकारते थे.

सिलचर में ही ईसाई धर्म सिद्धांतों को जानने की उत्सुकतावश विपिन बाबू ने किसी एलेन साहब को रमा बाई से बातचीत के लिए बुलवाया. एलेन साहब बैपटिस्ट मिशनरी थे. दंपति के भावी जीवन की योजना थी कि घर के एक भाग में बाल-विधवाओं के लिए एक स्कूल खोलें. दुर्भाग्यवश विवाह के डेढ़ वर्ष पूरे हुए भी नहीं थे कि हैजे से विपिन बाबू की अकाल मृत्यु हो गई. पति की मृत्यु के बाद उन्होंने क़र्ज़े चुकाए. विधवा होने के बाद उन्होंने मद्रास जाकर अंग्रेज़ी की पढ़ाई करने की योजना बनाई.

मद्रास में भाषा संबंधी दिक्कतों के चलते रमा बाई महाराष्ट्र लौट आईं. 30 अप्रैल, 1882 को रमा बाई पूना पहुंचीं तो प्रार्थना-समाज और दूसरे सामाजिक संगठनों ने उनका स्वागत किया. यहां रानाडे, मोदक केलकर, भंडारकर, तेलंग, चंदावरकर वगैरह लोगों का स्नेह मिला. पूना पहुंचने के अगले दिन 'आर्य महिला समाज' की स्थापना की. नवंबर में इसकी शाखा बंबई में खोली गई. आर्य महिला समाज बाल विवाह और स्त्री शोषण के ख़िलाफ़ काम कर रहा था. स्त्री-शिक्षा पर इसका विशेष ज़ोर था. अन्य शहरों में भी इसकी शाखाएं खुलीं. बंगाल में भी इसका प्रभाव पड़ा और द्वारकानाथ गांगुली ने आर्य महिला समाज की शाखा खोलने के लिए अपील जारी की. आर्य महिला समाज ने जागरूकता फैलाकर स्त्रियों को एकजुट करने का काम किया. इसकी बैठक हरेक शनिवार को नियम से होती थी. बैठकों में सामाजिक रीति-रिवाज़ों में सुधार लाने की मांग को लेकर आपस में वाद-विवाह होता था और उसके बाद कोई कार्यक्रम तय होता था.

इसी दौरान रमा बाई ने जून, 1882 में अपनी पहली किताब 'स्त्री धर्म

नीति' लिखी. यह उनके स्वर्गीय पति की याद में भारत की स्त्रियों को समर्पित थी. यह मराठी में लिखी गई थी और इसका अंग्रेज़ी शीर्षक था Morals For Women क्योंकि उन दिनों देशी भाषाओं में छिपी किताबों के पंजीकरण के लिए यह ज़रूरी था. किताब की ख़ूब बिक्री हुई. 'स्त्री धर्म नीति' का बंगला में अनुवाद रमा बाई के पति स्व. विपिन बाबू के परिचित रजनीनाथ नंदी ने स्वयं किया. मराठी में छिटपुट आलोचना के बावजूद किताब को लोगों ने सराहा. इस किताब में 145 पन्ने थे और आठ खंड.

'स्त्री धर्म नीति' की शुरुआत में ही पंडिता रमाबाई ने लिखा था कि 'स्त्री' की प्रगति की नींव है -- आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता. स्त्रियों को भाषा, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि के अलावा गणित, भूगोल, राजनीतिक अर्थशास्त्र, चिकित्सा-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान -- जैसे विषयों का भी ज्ञान होना चाहिए. पारंपरिक पाक-कला में भी निपुण होना चाहिए. चरित्र में गहराई, अपनी सीमा का बोध, संयम, सतर्कता, नैतिकता, विनम्रता, आदर वगैरह जो गुण स्त्री में खोजे जाते हैं, वे अपना सम्मानजनक स्थान बनाए रखने के लिए ज़रूरी हैं. बाल-विवाह हर हाल में अनुचित है. सिर्फ़ अतीत के गौरव की खोखली बातों से कुछ नहीं होता. स्त्रियों को उनका हक़ दो, तभी वे और उनकी संतान मुकम्मल इंसान बन पाएगी.

मिस हफर्ड नामक एक ईसाई महिला से पंडिता रमाबाई ने अंग्रेज़ी पढ़ना शुरू कर दिया. पूना के पंचहौद मिशनरी से परिचय मिस हफर्ड के जरिए हुआ. वहीं पर इनकी मुलाक़ात एक ऐंग्लिकन संस्था 'कम्युनिटी ऑफ सेंट मेरी द वर्जिन' की वैंटेज सिस्टर्स से हुई. रमाबाई इनके अच्छे व्यवहार एवं ईश्वर-भक्ति से प्रभावित हुईं. पिछले बहुत समय से पंडिता रमाबाई हिंदू-धर्म के प्रति एक अजीब-सा खालीपन अनुभव कर रही थीं.

इसी दौरान रमाबाई की मुलाक़ात फादर गोरे से हुई. फादर गोरे कोंकणस्थ चितपावन ब्राह्मण पंडित नीलकंठ शास्त्री गोरे थे. धर्मांतरण के बाद नाम ज़रूर बदलकर Nehemiah goreh हो गया मगर सभी लोग उन्हें साधु-संत की तरह आदर देते थे. पूना में फादर गोरे से रमाबाई की मुलाक़ात में फादर गोरे की ईसाई और हिंदू-धर्म की समझ और तार्किकता ने रमाबाई को ख़ासा प्रभावित किया. ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त हंटर-कमीशन ने भारत के लिए शिक्षा-नीति बनाने हेतु कई व्यक्तियों से राय मांगी. इसमें पं. रमाबाई

भी शामिल थीं. रमाबाई ने सुझाव दिया कि शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं को बराबरी का दर्जा मिले. महिला शिक्षिकाएं बहाल की जाएं. उनकी अलग से ट्रेनिंग हो. अपनी भाषा के अलावा अंग्रेज़ी सीखें. पुरुषों की तुलना में उन्हें ज़्यादा तनख़्वाह मिले, क्योंकि उनका चरित्र और ओहदा दोनों बेहतर होना चाहिए. कॉलेज परिसर में शिक्षिका और छात्राओं के रहने की व्यवस्था होनी चाहिए और वहां उनकी सहूलियत की सारी चीज़ें उपलब्ध होनी चाहिए.

शिक्षा-व्यवस्था में जो खामियां हैं, उन्हें दूर करने के लिए पहला काम यह होना चाहिए कि लड़कियों के स्कूल में महिला निरीक्षिका हों. सरकार को लड़कियों के लिए मेडिकल की पढ़ाई की व्यवस्था करनी चाहिए. इस समस्या की ओर रानी विक्टोरिया का ध्यान गया. तत्कालीन वायसराय की पत्नी लेडी डफरिन के नेतृत्व में डफरिन-आंदोलन की शुरुआत यहीं से हुई और भारत में लड़कियों को मेडिकल शिक्षा देने में मदद के लिए संगठन बना.

इसी बीच पं. रमाबाई के मन में इंग्लैड जाकर मेडिकल की पढ़ाई करने व स्त्रियों की शिक्षा के बारे में ज़्यादा-से-ज़्यादा जानने का विचार आया. इसकी प्रेरणा देने वाली श्रीमती सोराबजी (frensuna sorbji) थीं. वे मूलत: नीलगिरि के हिंदू परिवार से थी. उनके ज्ञान में पूरब और पश्चिम का अद्भुत संयोग था. श्रीमती सोराबजी पूना के एक निजी स्कूल की प्रिंसिपल थीं और उनके संपर्क से ही रमाबाई की रुचि किंडरगार्टेन में जागी. रमाबाई बड़े पैमाने पर स्त्रियों की सहायता के लिए कुछ करना चाहती थीं. इस सपने को पूरा करने के लिए धन जुटाना था. भारत में जो मदद मिल रही थी, वह कम थी. ऐसे में विदेश से आर्थिक मदद मिलने की उम्मीद थी. मनोरमा दो साल की थी जिसे पीछे किसी और के पास छोड़कर जाना मुमकिन नहीं था. वैंटेज सिस्टर्स ने रमाबाई की आगे की पढ़ाई में मदद करने का वादा किया था इसलिए सारी मुश्किलों -- अनिश्चितताओं के बावजूद विदेश जाना पक्का था. किसी तरह इंग्लैंड के लिए जहाज़ का किराया जुटाया. उनके साथ आनंदीबाई भगत भी इंग्लैंड जा रही थी. उसे वहां पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति मिली थी और उन्होंने साथ यात्रा करना तय किया.

20 अप्रैल, 1883 की शाम को वे लोग *एस. एस. बुखारा* नामक जहाज़ से इंग्लैंड के लिए रवाना हुए. सफ़र 27 (सताइस) दिन का था. यात्रा

की समाप्ति पर सैंट मेरीज होम से दो सिस्टर मिलने आईं और सेंट मेरीज होम ले गईं, जहां अच्छा स्वागत हुआ. पं. रमाबाई ने सदाशिव पांडुरंग केलकर के नाम एक पत्र लिखा, जिसे उन्होंने रमाबाई की अनुमति से मराठी में छपवा दिया, शीर्षक था 'पंडिता रमाबाई यांचा इंग्लैंडचा प्रवास' (पंडिता रमाबाई का इंग्लैंड-प्रवास). सेंट मेरीज होम की सिस्टर्स ने हर संभव मदद की. सिस्टर जेरल्डिन से तो ऐसा रिश्ता बना कि मरते दम तक कायम रहा. वे रमाबाई की आध्यात्मिक माता बनीं.

जून, 1883 को पं. रमाबाई सर बर्टले फ्रेरे से मिलीं. वे बंबई प्रेसीडेंसी के गवर्नर रह चुके थे. उन्होंने वहां पचास साल गुज़ारे थे. पं. रमाबाई ने उन्हें एक पत्र लिखा 'भारतीय नारी का विलाप' (The cry of Indian women). लड़की को जन्म से लेकर ससुराल तक हर क़दम पर दुख और अपमान झेलना पड़ता है. यदि विधवा हो गई तो विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ता है. रानी विक्टोरिया भी औरत हैं फिर क्यों उनके राज में हम इस अत्याचार के भागी हैं? रमाबाई ने फ्रेरे साहब को आर्य महिला समाज के उद्देश्यों के बारे में बताया -- बाल-विवाह पर रोक, पहली पत्नी के ज़िंदा रहते दूसरे विवाह पर रोक और बेसहारा स्त्रियों की मदद एवं स्त्री-शिक्षा को बढ़ावा देना. पहले दो उद्देश्यों के लिए तो सरकार और पूरे समुदाय को तैयार करना पड़ेगा, लेकिन अंतिम उद्देश्य को पूरा करने में फ्रेरे साहब तत्काल मददगार साबित हो सकते हैं. पूना में विधवाओं और बेसहारा स्त्रियों के लिए एक आश्रम खोलने का इरादा है. यदि इस फरियाद को रानी विक्टोरिया और दूसरे बड़े लोगों की नज़र में लाया जाए तो आसानी से यह मिशन पूरा हो सकता है.

सेंट मेरीज होम में रहने के कुछ दिन बाद वहां की मदर सुपीरियर ने रमाबाई को फुलहम भेजा ताकि माहौल बदले. यह उन्हीं की एक शाखा थी और समाज में पतित कहलाने वाली स्त्रियों के लिए 'उद्धार गृह' था. यह देखकर रमाबाई ने विचार किया कि हिंदू-धर्म तो इन्हें जाति से बाहर कर देता है. उसकी नज़र में ये निर्लज्ज और निर्दय हैं और किसी की दया की पात्र नहीं हैं, मगर ईसाई इन पर भी दया करते हैं. फुलहम में सिस्टर लोगों का काम देखकर हिंदू-धर्म और ईसाई-धर्म में मूलभूत अंतर दिखने लगा. ईसाई-धर्म में स्त्री-पुरुष को समान भाव से देखा जाता है, इस चीज़ ने रमाबाई को प्रभावित किया. सबसे बड़ी बात कि ईसाई-धर्म भाषण नहीं पिलाता, बल्कि ठोस काम करने में यक़ीन रखता है. पाप और क्षमा का इसका विचार एकदम

अनूठा है. हालांकि पूना में रहते समय ही मिशनरी लोगों के साथ रमाबाई ईसाई-धर्म और उसके सिद्धांतों पर चर्चा करती थीं. ईसाई-धर्म के प्रति अपने आकर्षण के बावजूद रमाबाई के मन में कई सवाल थे. फादर गोरे ने इन सभी शंकाओं, सवालों के जवाब में एक पूरी पुस्तक मराठी में लिख डाली. जिसमें रमाबाई को सभी सवालों का जवाब मिल गया और 29 सितंबर, 1883 को मनोरमा के साथ रमाबाई ने ईसाई-धर्म स्वीकार किया. डीन विलियम बटलर ने उनका बपतिस्मा किया. ईसाई-धर्म अपनाने से दोस्तों और देशवासियों की नाराज़गी के बावजूद रमाबाई को इस क़दम को उठाने का अफ़सोस नहीं था. आनंदीबाई भगत ने स्वेच्छा से ईसाई-धर्म कबूल करने का फ़ैसला किया लेकिन अचानक उसने ज़हर खाकर आत्महत्या कर ली थी. परंतु फिर भी मृत्युशय्या पर उसने अपना बपतिस्मा कराया. आनंदीबाई की मृत्यु रमाबाई के लिए भयानक झटका थी. धर्म-परिवर्तन के बाद रमाबाई का नाम --- मेरी रमा और मनोरमा का -- मनोरमा मेरी रखा गया.

इसके तुरंत बाद रमाबाई प्रो. मैक्समूलर के घर ऑक्सफोर्ड चली गईं. ऑक्सफोर्ड में मेडिकल क्लास करने की व्यवस्था प्रो. मैक्समूलर ने कर दी. परंतु कान की ख़राबी की वजह से यह सपना अधूरा ही रहा. इसी बीच देश में धर्म-परिवर्तन को लेकर काफ़ी आलोचनाएं हुई. 'इंदुप्रकाश', 'सुबोधपत्रिका', 'केसरी' इत्यादि अख़बार-पत्रिकाओं ने काफ़ी आलोचना की. मगर ज्योतिबा फुले ने रमाबाई का खुलकर साथ दिया.

इसी दौरान सितंबर, 1884 को रमाबाई सेंट मेरीज होम से दूर चैल्तेहम लेडीज़ कॉलेज चली गईं. वहां व्यवस्थित रूप से प्रकृति-विज्ञान, गणित, अंग्रेज़ी-साहित्य और ग्रीक की पढ़ाई शुरू की. साथ ही संस्कृत और मराठी की शिक्षिका के रूप में भी काम करने लगीं. एकाध जगह से आर्थिक सहायता भी मिल गई. इस तरह वह यहां पर रियायती दर पर पढ़ने-रहने लगीं. इसी समय पं. रमाबाई को लेकर लाहौर और बंबई के बिशप के निर्देशों से पं. रमाबाई को बहुत दुख हुआ. पं. रमाबाई ने स्पष्ट किया कि उन्हें क्या करना है इसका फ़ैसला लेने का हक़ केवल उन्हीं को है. कॉलेज में लड़के-लड़कियों को पढ़ाने के मुद्दे पर बिशप और रमाबाई में टकराव हुआ. दुख की बात थी कि सिस्टर जेरल्डिन बिशप की बातों से सहमत थीं. पं. रमाबाई ने सिस्टर जेरल्डिन को पत्र में साफ़-साफ़ लिखा कि कोई मेरी व्यक्तिगत स्वतंत्रता में दखलंदाज़ी करे, यह मुझे गवारा नहीं. रमाबाई ने इस चीज़ को महसूस किया

कि मिशनरियों का ज़्यादा ज़ोर सिर्फ़ हिंदू-धर्म की ख़ामियों को उजागर करने पर रहता है. रमाबाई की ईसाई-धर्म के प्रति सूक्ष्म आलोचनात्मक दृष्टि, भारतीयता के प्रति आग्रह अभी भी सबको खटकता था. 1885 को दिसंबर में रमाबाई का ईसाई-धर्म में 'कन्फर्मेशन' हुआ.

सन् 1886 की शुरुआत में पं. रमाबाई को अमेरिका आने का प्रस्ताव मिला. फिलेडेल्फिया के वीमेंस मेडिकल कॉलेज की प्रिंसिपल प्रो. रैचेल बॉडली ने पत्र लिखा कि वे कॉलेज के सालाना दीक्षांत समारोह में रमाबाई को बुलाना चाहते हैं. फिलेडेल्फिया में आनंदीबाई जोशी को डॉक्टर की डिग्री मिलनेवाली थी और प्रो. बॉडली चाहती थीं कि उस मौक़े पर रमाबाई मौजूद रहें और भविष्य में रमाबाई के नेतृत्व में वह भारत जाकर काम शुरू करे. रमाबाई का मन भी वहां जाने को हो रहा था. अपने भावी आश्रम के लिए फंड उगाहने का काम करना था. रमाबाई इंग्लैंड के चर्च की मिशनरी महत्त्वाकांक्षा, पुरुषवादी ढांचे और उपनिवेशवादी मानसिकता के बोझ को उतारकर आगे बढ़ना चाहती थीं. रमाबाई ने अमेरिका जाने का फ़ैसला किया और मनोरमा के साथ 'ब्रिटिश प्रिंसेस' नामक जहाज़ से रवाना होने की सूचना भेज दी.

अमेरिका के फिलेडेल्फिया वीमेंस कॉलेज के दीक्षांत-समारोह में आनंदीबाई को डॉक्टर की डिग्री मिली और रमाबाई का पौन घंटे का भाषण हुआ जिसमें प्रमुख बल भारत में स्त्रियों की हालत और ज़रूरतों पर था. आनंदीबाई जोशी रमाबाई की दूर की रिश्तेदार थीं. जब रमाबाई 1883 में इंग्लैंड गईं लगभग उसी समय वह कलकत्ते से अमेरिका के लिए रवाना हुई थीं. आनंदीबाई रमाबाई से छोटी थीं. आनंदीबाई का बचपन का नाम यमुना था, 9 वर्ष की उम्र में ही गोपाल विनायक जोशी से उनका विवाह कर दिया गया था. 13 वर्ष की उम्र में एक बच्चा हुआ जो चल बसा. इलाज़ के अभाव में बच्चे की मौत से आनंदीबाई ने ठान लिया कि वे ख़ुद डॉक्टर बनेंगी और अपने जैसी मांओं का दुख दूर करने की जी-तोड़ कोशिश करेंगी. उनका दिमाग़ बहुत तेज़ था और विनती करने पर पति ने मेडिकल पढ़ाने के लिए हामी भर दी. संयोग से श्रीमती बी. एफ. कार्पेंटर को गोपाल जोशी का अपनी पत्नी को पढ़ाने में आर्थिक मदद करने का पत्र हाथ लग गया. उनकी सहायता की बदौलत आनंदीबाई डॉक्टरी पढ़ने अमेरिका जा पाईं. दो साल बाद पति

भी वहां चले गए.

अमेरिका की यात्रा में मनोरमा की तबीयत ख़राब हो गई. अपने काम और मनोरमा की तबीयत को देखते हुए रमाबाई ने जुलाई, 1886 को उसे चैल्तेहम भेज दिया. रमाबाई ने पाया कि इंग्लैंड और अमेरिका के माहौल में काफ़ी अंतर है. चर्च और मिशनरी भी इंग्लैंड की तुलना में ज़्यादा खुले है. लिहाज़ा 3-4 महीने में इंग्लैंड लौटकर अपनी पढ़ाई पूरी करने का इरादा रमाबाई ने बदल दिया. अलग-अलग गांव-शहर में घूमकर भाषण देना, अपने देश का हाल बयान करना और वहां की स्त्रियों के उत्थान के लिए लोगों को कुछ करने के लिए प्रेरित करना रमाबाई के मुख्य काम थे. वहां अमेरिकी किंडरगार्टेन की बनावट और शिक्षा-सिद्धांतों को जानने का अनमोल मौक़ा मिला. किंडरगार्टेन चलाने वाले महान शिक्षकों के निर्देशन में बच्चों को पढ़ाने की पद्धति सीखी. शिक्षिकाओं के ट्रेनिग कॉलेज में कुछ महीनों का कोर्स भी किया. रमाबाई को फ्रोवेल शिक्षा-पद्धति पसंद आई. उन्होंने तय किया कि पूना में बाल-विधवाओं को आश्रम में रखकर किंडरगार्टेन क्लास से पढ़ाई शुरू करेंगी. रमाबाई ने नर्सरी स्कूलों की किताबों का मराठी में अनुवाद शुरू कर दिया, लेकिन अमेरिका में मराठी टाइपिंग नहीं थी.

1887 में आनंदीबाई की अकाल मृत्यु का समाचार रमाबाई को मिला. आनंदी बाई ने कोल्हापुर के एलबर्ट एडवार्ड अस्पताल में मुख्य चिकित्सक के रूप कार्य शुरू ही किया था कि क्षयरोग से उनकी मृत्यु हो गई. इस बीच मिसेज़ मार्कर्स बी. फुलर ने 'द रांग्स ऑफ इंडियन वुमेनहुड' नामक किताब लिखी और उसकी भूमिका पं. रमाबाई से लिखवाई. लोगों तक अपनी बात पहुंचाने के उद्देश्य से रमाबाई ने 'द हाई कास्ट हिंदू वुमेन' लिखी. यह किताब जून, 1887 में छपी. इस किताब में हिंदुस्तानी विधवाओं की समस्याओं को जगजाहिर किया गया ताकि लोग उनके बारे में जान सकें. रमाबाई का विश्वास था कि हिंदुस्तान में सामाजिक रीति-रिवाज़ों को जाति-व्यवस्था और पितृसत्ता ने विकृत कर दिया है. प्राचीन काल में स्त्रियों पर रीति-रिवाज़ों की ऐसी बंदिशें नहीं थीं. उन्हें समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था. धीरे-धीरे धर्मशास्त्रों ने स्त्रियों से उनकी आज़ादी छीन ली. ज्ञान के पूरे भंडार को स्त्रियों की पहुंच में आने से रोक दिया गया जबकि स्त्री को पूरा अधिकार है कि धर्मशास्त्रों के नियमों के आधार पर होने वाले धार्मिक निरंकुश आचरण

को चुनौती दे. इसके लिए स्त्री को लिखने-पढ़ने-बोलने का अधिकार हासिल करना होगा. ख़ुद धर्मशास्त्र पढ़कर जानना होगा. 'द हाई कास्ट हिंदू वुमेन' आनंदीबाई की स्मृति में और अंग्रेज़ी में लिखी गई.

अपनी किताब में रमाबाई ने हिंदू-समाज में स्त्रियों के जीवन के तीन चरणों को रेखांकित किया -- *बचपन, युवावस्था और वैवाहिक जीवन* तथा *विधवा जीवन और वृद्धावस्था.* स्त्री जन्म से मृत्यु तक दूसरे पर निर्भर रहती है -- पहले पिता, फिर पति और अंत में पुत्र. स्त्री चुपचाप सदियों से जुल्म सहती आ रही है. न ईश्वर के दरबार में उसकी सुनवाई है और न ही न्याय के दरबार में. इस पुस्तक में रुख्माबाई का प्रसिद्ध मामला भी दिया गया. अमेरिका-प्रवास के दौरान उन्हें रुख्माबाई का पत्र मिला जिसमें लिखा था कि आज के ज़माने में अंग्रेज़ जज 4000 साल पहले के बर्बर युग के अमानवीय क़ानून हम पर लाद रहे हैं. रानी विक्टोरिया ख़ुद औरत हैं मगर उनके राज में खुलेआम हम पर जुल्म हो रहा है.

अमेरिका में रहते हुए अब हिंदू विधवाओं के लिए आश्रम का नक्शा रमाबाई के दिमाग़ में साफ़ हो चला था. यह एक ऐसा आश्रम होगा जहां वे निर्द्वंद्व भाव से रह सकें और खान-पान, रहन-सहन में जातिगत नियमों का पालन करने की आज़ादी हो. उन्हें शिक्षिका, आया, नर्स आदि की ट्रेनिंग दी जाए. टाइपिंग से लेकर सिलाई-कढ़ाई वगैरह हर तरह के हुनर सिखाएं जाएं ताकि अपनी आजीविका के लिए उन्हें किसी का मोहताज न होना पड़े. विदेशी और पढ़ी-लिखी स्त्रियां मार्गदर्शन करें और सहायता भी. इससे यह होगा कि पूरब और पश्चिम की संस्कृति का मेल होगा और दोनों को एक-दूसरे से लाभ मिलेगा.

मई, 1887 में बॉस्टन में एक सभा में 'रमाबाई एसोसिएशन' इसी मिशन को लेकर बना. यह एक आम सभा थी, जिसमें विभिन्न ईसाई पंथों के लोग मौज़ूद थे. अपनी धार्मिक संकीर्णता से ऊपर उठकर मानवता के नाम पर उन्होंने भारतीय स्त्रियों की मदद करने का निश्चय किया. विधवा-आश्रम खोलने की योजना को किस तरह पूरा करना है, इसके लिए एक तदर्थ समिति बनी. दिसंबर महीने में उस समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश की और बाजाप्ता एसोसिएशन का संगठन किया गया, संविधान बना, पदाधिकारी चुने गए. रेव. डॉ. ई. ई. हाल अध्यक्ष बनाए गए डॉ. पी. ब्रुक्स उपाध्यक्ष बनाए गए.

13 दिसंबर, 1887 का दिन रमाबाई के लिए सपनों के पूरे होने जैसा दिन था. 'रमाबाई एसोसिएशन' ने तय किया कि भारत में एक धर्मनिरपेक्ष स्कूल खोला जाए जिसे आगामी 10 सालों तक आर्थिक मदद दी जाएगी. उस स्कूल में न हिंदू-धर्म की शिक्षा दी जाएगी न ही ईसाई-धर्म की. स्कूल के पुस्तकालय में वेद और बाइबल अगल-बगल में रहेंगे और सबके लिए उपलब्ध होंगे. जातिगत नियमों का पालन करने की व्यक्तिगत स्तर पर छूट होगी पर किसी भी तरह का सार्वजनिक धार्मिक समारोह नहीं होगा. अमेरिका-प्रवास के दौरान रमाबाई निरंतर व्यस्त रहतीं फिर भी मनोरमा, सिस्टर्स आदि से पत्रों के माध्यम से संपर्क बनाए रखतीं. 'द हाई कास्ट हिंदू वुमेन' की अमेरिका में काफ़ी अच्छी बिक्री हुई मगर इंग्लैंड में बहुत कम. इसके अपने कुछ कारण भी थे. यहां पर रमाबाई ने 1888 के सितंबर माह में हिंदुस्तान लौटने का लक्ष्य रखा. एसोसिएशन की कई (लगभग 60) शाखाएं स्थापित कीं. अपने निरंतर भाषणों, लेखों से रमाबाई ने अपने क़र्ज़े चुका दिए. इसी बीच उनकी दोस्त प्रो. बॉडली की मृत्यु हो गई, जो उनकी आमदनी, एसोसिएशन के कार्यों एवं 'द हाई कास्ट हिंदू वुमेन' की ख़रीद-बिक्री का हिसाब-किताब रखती थीं. यह रमाबाई के लिए अपूरणीय क्षति थी. 'द हाई कास्ट हिंदू वुमेन' को इंग्लैंड में दुबारा नए रूप में छपवाने की बात रमाबाई के मन में उठी. इसका भार सिस्टर जेरल्डिन को सौंपा. रमाबाई का आग्रह केवल इतना था कि किसी धार्मिक सोसाइटी की ओर से उसे न छापा जाए.

अंततः 28 नवबंर, 1888 को रमाबाई 'ओसियानिक' नामक जहाज़ से अमेरिका से रवाना हुईं. 20-21 दिन बाद जापान पहुंचीं. जापान में 13 दिन का प्रवास था. वहां से हांगकांग अगला पड़ाव था और वहां से कलकत्ते के लिए दूसरा जहाज़ पकड़ना था. इस यात्रा के बीच डॉ. ईमा रेडर से मुलाक़ात हुई. ये न्यूयार्क में डॉक्टर थीं और हिंदुस्तान में स्त्रियों व बच्चों के लिए अस्पताल खोलने के इरादे से जा रही थीं.

कलकत्ता बहुत कम समय (केवल कुछ घंटे) का पड़ाव था. जहाज़ से उतरकर रमाबाई सीधे पूना चली गईं. वहां सिस्टर एलिनॉक्स, मनोरमा के साथ उनका इंतज़ार कर रही थीं. रमाबाई एक मिनट भी बर्बाद नहीं करना चाहती थीं. इसलिए फादर गोरे और शहर के कुछ मराठी दोस्तों से मिलकर उसी रात बंबई के लिए निकल गईं. आश्रम बनाने के लिए बंबई को ही चुना. सेठ माधवदास रघुनाथदास के घर पर हुई बैठक में शहर के नामी-गिरामी

लोग रमाबाई की बात सुनने के लिए जमा हुए. रमाबाई ने विस्तार से योजना बताई. विदेशी सहायता कैसे और कितनी मिली, सबके सामने रखी. रानाडे, भंडारकर, देशमुख को सलाहकार और न्यासी बनाने का प्रस्ताव था. सबकी निगाह में यह शोषण की शिकार विधवाओं के हक़ में ठोस व कारगर क़दम था. पुराने मतभेद भुलाकर सुधारकों का समूह रमाबाई के आश्रम में दिलचस्पी ले रहा था.

11 मार्च, 1889 को 'शारदा-सदन' का शुभारंभ हुआ. नामकरण की एक वजह यह भी थी कि इसकी पहली छात्रा शारदा नाम की लड़की थी. पहले दिन दो छात्राएं हो गईं. एक महीने के भीतर आठ छात्राएं उनमें से 6 ब्राह्मण और दो बाल-विधवाएं. बंबई की चौपाटी पर एक किराए के मकान को शारदा सदन का नाम दिया था. इस शारदा सदन का उद्घाटन समारोह भव्य था. श्रीमती काशीबाई कानेटकर ने समारोह की अध्यक्षता की. रमाबाई ने संस्थान खोलने की ज़रूरत क्या है, इसे सामने रखा, सदाशिव पांडुरंग केलकर ने व्यवस्थापक समिति के सदनों के नाम और शारदा सदन के नियम-क़ानून के बारे में विस्तार से बताया. जस्टिस तेलंग ने अंग्रेज़ी में सभा का सार-संक्षेप प्रस्तुत किया और राव साहब मोदक ने धन्यवाद ज्ञापित किया.

शुरुआती तीन महीनों में छात्राओं की संख्या 24 हो गई. इन्हीं कार्यों के बीच 1889 में रमाबाई की मराठी में एक पुस्तक 'यूनाइटेड स्टेट्सची लोकस्थिति अनि प्रवासवृत्ती' आई. इस किताब से वह अमेरिकी जीवन को लोगों के सामने लाना चाहती थीं. ज़्यादातर बातें अपने अनुभव के आधार पर लिखी थीं. इस क्रम में इंग्लैंड और अमेरिका के जीवन के अंतर को रेखांकित किया. लेखन के अतिरिक्त रमाबाई भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और इंडियन सोशल कांफ्रेंस में भी सक्रिय हुईं. दिसंबर, 1889 में दोनों का वार्षिक सम्मेलन बंबई में हुआ. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पूरी तरह राजनीतिक दल था तो इंडियन सोशल कांफ्रेंस रानाडे के नेतृत्व में केवल सामाजिक मसलों को उठाता था. इस बार रमाबाई ने उस मंच से भारत की संपर्क भाषा के रूप में हिंदी को प्रतिष्ठित करने की मांग की. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लगभग 200 प्रतिनिधियों के सामने रमाबाई को बोलने का मौक़ा मिला. कुल दस स्त्रियां मौजूद थीं. 'वुमेनज क्रिश्चियन टेंपरेंस यूनियन' और आर्य महिला समाज का प्रतिनिधित्व रमाबाई कर रही थीं. उन्होंने अपने भाषण में बतलाया कि किस तरह पुरुषों ने स्त्रियों को हाशिए पर धकेल दिया है. 29 दिसंबर,

1889 को इंडियन नेशनल सोशल कांफ्रेंस के मंच से रमाबाई ने बाल-विधवा का सवाल उठाया और मांग की कि विधवाओं के मुंडन की प्रथा पर रोक लगाई जाए, क्योंकि यह अमानवीय है. विधवा को इस बात की आज़ादी होनी चाहिए कि वह अपने मुताबिक जीवन जी सके. अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार पुरुष के साथ स्त्री को भी मिलना चाहिए.

रमाबाई ने मध्य भारत, काठियावाड़ और दक्कन की यात्रा की. इसी बीच शारदा सदन के लिए नया मकान किराए पर लेना पड़ा. साल समाप्त होते-होते कुल 51 छात्राएं हो गईं, जिनमें 34 विधवाएं थीं. दिसंबर, 1889 को 'इलेस्ट्रेटड क्रिश्चियन वीकली' में सदन में रहने वाली दो विधवाओं के धर्मांतरण की ख़बर ने रमाबाई के आलोचकों को खुलकर बोलने का मौक़ा दिया, रमाबाई ने एक प्रतिष्ठित अख़बार में छपवाया कि सदन की हर लड़की को अपने धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन करने की आज़ादी है.

बंबई के मंहगे होने के कारण शारदा-सदन पूना लाया गया. नवंबर, 1890 में पूना में कैंप इलाके में रेल्वे स्टेशन के पास एक बंगला किराए पर लिया गया. नए सिरे से समितियां बनाई गईं और नई व्यवस्था की गई. इसी बीच शारदा सदन में रहने वाली एक विधवा गोधू बाई का विवाह प्रो. कर्वे से हुआ जो विधुर थे. शारदा-सदन से संबंधित व्यवस्था को लेकर कुछ विवाद भी उठे, मगर परिस्थितियां गंभीर न हुईं. रमाबाई ने स्कूल के लिए साढ़े तीन एकड़ ज़मीन .खरीदी. पुराने दो बंगलों और आउटहाऊस वगैरह को ठीक-ठाक कराकर अच्छा-ख़ासा बना लिया. इन सभी व्यस्तताओं के बीच रेव. डब्ल्यू. हार्लाम की पुस्तक 'फ्रॉम डेथ अन टू लाइफ' ने रमाबाई को नई रोशनी दी.

अगस्त, 1893 को रानाडे, भंडारकर आदि ने सलाहकार-समिति से सामूहिक इस्तीफ़े दिए. इसका कारण शारदा नामक लड़की का ईसाई-धर्म के प्रति रुझान था. नतीजा यह हुआ कि स्कूल से एक-एक करके 25 लड़कियां हटा ली गईं. जल्द ही हिंदू-धर्म की सीमाओं के अंदर रहते हुए हिंदू विधवाओं के लिए 'अनाथ बालिकाश्रम' (1896, जून) खोला गया. प्रो. कर्वे और उनकी पत्नी आनंदीबाई (पहला नाम गोधूबाई) के कुशल नेतृत्व में यह चला. कहा जाता है कि रमाबाई की 'ग़लतियों' ने ही इसे प्रेरणा दी. रमाबाई ने शारदा-सदन को धर्म-प्रचार-केंद्र के रूप में कभी नहीं चलाया.

स्त्रियों की बदहाली के संबंध में मथुरा और वृंदावन में संन्यासिनी का वेष धर कर सच्चाई देखने गई रमाबाई ने देखा कि देश के अनेक हिस्सों से आई विधवाएं यहां पुजारियों के चंगुल में फंस जाती हैं. बाद में इनका पर्दाफाश करते हुए वृंदावन यात्रा का संस्मरण अख़बार में छपवाया. 'रमाबाई एसोसिएशन' अमेरिका की प्रतिनिधि मिसेज़ जूडिथ डब्ल्यू एंड्रयूज शारदा-सदन आईं. उनके साथ दिल्ली और आगरा की यात्रा के दौरान भी हर जगह स्त्रियों को शोषित और प्रताड़ित पाया.

1896 में मध्य भारत में अकाल पड़ा. रमाबाई ने अकाल पीड़ितों को बचाने का भरसक प्रयास किया. अपनी सहकर्मिणी सुंदर बाई पवार के ज़िम्मे शारदा-सदन छोड़कर वह अकालग्रस्त इलाके में निकल पड़ीं. साथ में राजपूताना की मिशनरी मिसेज़ डेसन थीं. उस इलाके से रमाबाई 60 विधवाओं को पूना लाने में कामयाब रहीं. कुछ समय पूना में रुक रमाबाई पुन: अकाल वाले इलाके में जा पहुंचीं. यहां से बेसहारा लड़कियां एवं बच्चों को शारदा सदन पहुंचाया जा रहा था. इसी बीच ब्यूबोनिक प्लेग फैलने के कारण पूना में बाहर के अकाल पीड़ितों को लाने की मनाही कर दी गई. ऐसे समय में केडगांव में ख़रीदी गई ज़मीन काम आई. वहां किराए पर टेंट लगवा कर लड़कियों को ठहराया. केडगांव को मुक्ति-मिशन नाम दिया गया. स्कूल, शयनशाला, चर्च, रसोई, डिस्पेंसरी आदि के लिए भवन बनवाए गए. इस व्यस्तता में मिस मिनी अब्राम्स ने रमाबाई का हाथ बंटाया.

मार्च, 1898 को रमाबाई एसोसिएशन के 10 साल पूरे हो रहे थे. उसके पुनर्गठन के लिए रमाबाई को अमेरिका बुलाया गया. वे इंग्लैंड होती हुई अमेरिका गईं. अमेरिकी दोस्तों ने गर्मजोशी से स्वागत किया. नई समिति बनी और उसने शारदा-सदन एवं मुक्ति-मिशन को सहयोग देने का निर्णय दिया. अमेरिका से लौटकर आने के बाद मि. और मिसेज़ नॉर्टन, मिसेज़ बोकर, मिन एडमोंड्स आदि भी रमाबाई के साथ जुट गए थे. योजनानुसार पथभ्रष्ट स्त्रियों के लिए एक उद्धार-गृह शुरू किया, जिसका नाम रखा 'कृपा-सदन' यह क़रीब 22 एकड़ ज़मीन में खोला गया. सड़क के दूसरी ओर मुक्ति-मिशन था. कृपा-सदन की शुरुआत छ: लड़कियों से हुई और तीन साल के भीतर उनकी संख्या 300 हो गई. कृपा-सदन की बगल में एक मातृ-गृह (Mother's Home) बनाया गया. नवजात बच्चों के पास मांओं

को उसमें रखा गया. ज़्यादातर की उम्र 15 साल से कम थी. अंधी लड़कियों के लिए अलग से पढ़ाने की व्यवस्था की गई. लड़कों का स्कूल और अनाथाश्रम खोला गया (सदानंद सदन बाद में बंद हो गया). इसे चालू करने के पीछे मंशा थी कि उन्हें पढ़ा-लिखाकर लायक बनाया जाए. बेसहारा लड़कियों के लिए ये योग्य साथी हो सकते थे. लड़कियों की घरेलू उद्योग-धंधों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया ताकि वे आजीविका के लिए काम करने का हुनर सीखें.

1899 में अकाल और प्लेग का प्रकोप फिर हुआ. बंबई, पूना, गुजरात और राजपूताना में हाहाकार मचा हुआ था. अकालग्रस्त इलाकों में युवा लड़कियों को बचाने के लिए मिशन के साथियों को भेजा. पं. रमाबाई स्वयं तीन बार उन क्षेत्रों में गईं. अब मुक्ति-मिशन और कृपा-सदन में लड़कियों की संख्या लगभग 1200 हो गई. पूना में शारदा-सदन और केडगांव में मुक्ति-मिशन कृपा-सदन की व्यवस्था में दूरी के कारण थोड़ी परेशानी आने लगी. शारदा-सदन के पड़ोसियों से कुछ मतभेद हो जाने से रमाबाई ने अमेरिकी एसोसिएशन के सामने शारदा सदन को केडगांव लाने का प्रस्ताव रखा. मगर उसके अध्यक्ष डॉ. ई. डब्ल्यू. डोनाल्ड ने मना कर दिया. डोनाल्ड महोदय ने लंबा पत्र लिखा, जिसमें मनाही का मुख्य कारण बताया कि एसोसिएशन शारदा-सदन का मूल चरित्र बनाए रखना चाहता है. उनके मुताबिक यह मुख्यत: ऊंची जाति की हिंदू विधवाओं का स्कूल है और मुक्ति मिशन का स्वरूप ईसाई संगठन जैसा है. इसलिए शारदा-सदन की काफ़ी लड़कियों के धर्मांतरण के बावजूद इसके हिंदू-चरित्र को बरकरार रखने के लिए मुक्ति-मिशन से अलग रखना ज़रूरी है. यह विवाद ज़्यादा नहीं गहराया और शारदा-सदन को केडगांव लाना ही पड़ा. शारदा-सदन के स्वरूप में स्वभाविक रूप से बदलाव आ रहा था. पहले ईसाई-धर्म स्वीकार करने वाली लड़कियां कम थीं पर 1897 के अंत में वहां की 116 बाल-विधवाओं और स्त्रियों ने सामूहिक धर्म-परिवर्तन किया. इन सबके साथ लोकोपकार एवं धर्मप्रचार का काम भी जारी था. 'बाइबल धर्मोपदेशक स्त्रियां' दूर-दराज इलाकों में जाती थीं, ईसू की कहानियों का प्रचार-प्रसार करती थीं. अमेरिका में जैसे आश्रम की सहायता के लिए केंद्र शुरू किए थे उसी तर्ज पर यहां 'प्रार्थना-मंडली' बनाई. इस मंडली ने प्रार्थना के जरिए दुखियारों के बीच जाकर जीवन के प्रति आस्था जगाने का काम किया.

'मुक्ति प्रेयर बेल' का नियमित प्रकाशन शुरू करके रमाबाई ने ईसाई-धर्म के गूढ़ सिद्धांतों पर वैचारिक बहस छेड़ने की कोशिश की. इसमें मुक्ति मिशन के कामों के बारे में जानकारी दी जाती थी. इसकी टाइपसेटिंग से लेकर छपाई तक का काम लड़कियां ख़ुद करती थीं. रमाबाई ने स्वयं बाइबिल का मराठी अनुवाद करना प्रारंभ किया. इस काम में उन्हें 15 वर्ष लगे. यह अनुवाद उन्होंने मूल हिब्रू और ग्रीक भाषा से किया था. इसी बीच मनोरमा भी जी-जान से शारदा-सदन और अन्य कामों में जुटी हुई थी. अंधे बच्चों को पढ़ाने, सिल्क-उद्योग चलाने से लेकर आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, इंग्लैंड वगैरह में मुक्ति-मिशन के प्रचार-प्रसार का काम उसने सफलतापूर्वक संपन्न किया. कड़ी मेहनत और कमज़ोर स्वास्थ्य ने मनोरमा के शरीर को जर्जर बना दिया और लंबी बीमारी के बाद वह 24 जुलाई, 1921 को अपनी मां की आंखों के सामने चल बसी.

अपनी बेटी की मृत्यु के बाद भी रमाबाई निरंतर अपने काम में लगी रहीं, परंतु वह भी अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकीं. अपने देश की स्त्रियों को पददलित अवस्था से ऊपर उठाकर लाने के प्रयास करते हुए 5 अप्रैल, 1922 को 64 वर्ष की आयु में रमाबाई की मृत्यु हो गई. यह मृत्यु चाहे उनकी शारीरिक अवस्था को समाप्त कर दे, परंतु अपनी मातृभूमि की अनगिनत बहनों को बेहतर अवस्था में लाने का जो सफल प्रयास उन्होंने किया, उसके कारण वह न केवल इस देश में अपितु संपूर्ण विश्व में तमाम आलोचनाओं से ऊपर उठकर एक श्रेष्ठ मानवतावादी का शाश्वत दर्जा पा चुकी हैं.

अनुवादक-परिचय

शंभू जोशी

जन्म : 16 जून, 1980. अजमेर (राजस्थान)

शिक्षा : बी. ए., एम. ए. (अर्थशास्त्र-पूर्वार्द्ध) राजकीय महाविद्यालय, अजमेर

एम. ए. (अहिंसा व शांति अध्ययन, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा)

संप्रति : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में एम. फिल. (अहिंसा व शांति अध्ययन)

प्रकाशन : 'हिंदू स्त्री का जीवन' (अनुवाद)

संपर्क : श्री चैतन्य प्रकाश जोशी, 'श्री दाता महर कुंज', सिंधी कॉलोनी, गुलाबपुरा -- 311 021, जिला-- भीलवाड़ा (राजस्थान)

स्त्री-विमर्श से जुड़ी कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

स्त्री और पराधीनता : प्रकृति, शक्ति और भूमिका से जुड़े प्रश्न

(नारीवादी विमर्श *सब्जेक्शन ऑफ विमेन* का अनुवाद)

उन्नीसवीं सदी के महान चिंतक-विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल की यह पुस्तक स्त्री-पराधीनता और स्वाधीनता से जुड़े गूढ़ रहस्यों पर से बड़ी बेबाकी से पर्दा हटाती है. स्त्री-पुरुष की तुलनात्मक प्रकृतियों और मानसिक-भावात्मक क्षमताओं को लेकर कई चौंकाने वाले और विचारों को झकझोरने वाले तथ्यों से भरपूर एक अत्यंत बौद्धिक और अद्वितीय पुस्तक. हर प्रबुद्ध पाठक और हर जागरूक स्त्री के लिए अनिवार्य अध्ययन!

अनुवाद : युगांक धीर

अपना कमरा

(विख्यात नारीवादी विमर्श *ए रूम ऑफ वंस ओन* का अनुवाद)

वर्जीनिया वुल्फ बीसवीं सदी के अंग्रेजी साहित्य की महान प्रतिभाओं में थीं. अपने लेखन में वे आजीवन स्त्री-प्रश्नों पर सोचती-जूझती रहीं, जिसमें *ए रूम ऑफ वंस ओन* (अपना कमरा) का विशिष्ट महत्त्व है. यह पुस्तक स्त्री-आंदोलन के अत्यंत महत्त्वपूर्ण पाठ के बतौर पहचानी गई. अपनी प्रखर तर्कशीलता, जीवंतता और रचनात्मक दृष्टि के चलते इसका महत्त्व नारी-आंदोलन के अलावा साहित्य संबंधी मान्यताओं के लिए भी पहचाना गया.

अनुवाद : गोपाल प्रधान

स्त्री के पास खोने के लिए कुछ नहीं है

(स्त्री मुक्ति के सवालों पर सिमोन द बोवुआर के साक्षात्कार)

अपनी विश्व-प्रसिद्ध कृति 'द सेकेण्ड सेक्स' से स्त्री-विमर्श को एक महत्त्वपूर्ण आयाम देने वाली सिमोन द बोवुआर ने स्त्री-सवालों का नया विश्लेषण प्रस्तुत किया. यह किताब नारीवाद, विवाह, परिवार, मातृत्व, स्त्री की यौनिकता और घरेलू-श्रम आदि मुद्दों पर सिमोन के स्पष्ट और ठोस विचारों का बेबाक लेखा-जोखा है -- साथ ही सार्त्र के साथ उनके अनूठे बौद्धिक और भावनात्मक संबंधों के कुछ अनछुए पहलुओं का भी. यह किताब 'द सेकेण्ड सेक्स' की अगली कड़ी है -- औरत के सवालों पर ज़्यादा गहराई और विस्तार से चिंतन करती हुई. ये साक्षात्कार नारी-मुक्ति से जुड़े प्रश्नों के हल खोजने का प्रयास हैं. यह पुस्तक स्त्री-पुरुष संबंधों के बारे में प्रचलित धारणाओं से परे एक नई समझ और अंतर्दृष्टि देती हैं. अनुवाद : मनीषा पांडेय

एक गुमशुदा औरत की डायरी

(सिमोन द बोवुआर की कहानियां)

सिमोन की इन तीन लंबी कहानियों से गुज़रना एक मर्मस्पर्शी उपन्यास की यात्रा जैसा है. 1969 में जब मूल रूप से फ्रांसीसी भाषा में यह संग्रह छपा, तो हफ्ते भर में ही 50 हज़ार प्रतियों बिकीं. बाद में कई संस्करण हुए. दुनिया भर में अनुवाद हुआ. स्त्री के जीवन की मौन यातना -- उसके ही दृष्टिकोण से, पर समूची वस्तुनिष्ठता के साथ इन कहानियों में उजागर हुई है. प्रेम, सुख, हर्ष, संबंध, दोस्तियां एक उम्र बीत जाने के बाद स्त्री के लिए एक दूसरी ही शक्ल में तब्दील हो जाते हैं. दर्द की एक दुनिया है सिमोन की इन कहानियों में, साथ ही गहरी वैचारिकता और अंतदृष्टि. एक आंसू जैसे थम गया हो.
अनुवाद : ललित कार्तिकेय

एक स्त्री की ज़िंदगी के चौबीस घंटे

(स्टिफन ज़्विग की कहानियां)

स्त्री-हृदय को समझने के लिए स्टिफन ज़्विग का कथा-साहित्य एक कोष, एक संदर्भ-ग्रंथ जैसा है. उनकी प्रेम करती, भावना से भरी स्त्रियां अपनी समस्त वेदना और दुखों के बावजूद एक ऐसी सच्चाई और आंतरिक दृढ़ता को रेखांकित करती हैं, जो समाज की कसौटियों से बड़ी ठहरती है. ये जीवन से भरी स्त्रियां, जिन्हें ज़्विग ने अपने ही समाज और पास-पड़ोस से उठाया; आंतरिक समृद्धि और प्रेम के ही मूल्यों से संचालित हैं. उनका जीवन सामाजिक ढांचे पर एक टिप्पणी बन जाता है. ज़्विग की अपने पात्रों की मनःस्थिति की अतल गहराइयों के भीतर अपने पूरे अभिव्यक्ति कौशल के साथ पैठने की क्षमता उनकी कहानियों को भावना और विचारों की ऐसी गहराई; मूल्य और दृष्टि की ऐसी उठान देती है, जिसकी मिसाल समूचे विश्व-साहित्य में और कहीं नहीं है.

अनुवाद : अनुराधा महेंद्र

उसका एकांत

(विश्व की श्रेष्ठ स्त्री-कथाकारों की कहानियां)

बीसवीं सदी के विश्व-साहित्य की महत्त्वपूर्ण घटना थी -- स्त्रियों का लेखन. सदियों का सन्नाटा टूटा था. स्त्री-चेतना की यह अभिव्यक्ति अपनी प्रामाणिकता में बेमिसाल थी और अपनी संवेदना में गहरी और मार्मिक. प्रस्तुत है विश्व भर से श्रेष्ठ स्त्री लेखिकाओं की चुनिंदा कहानियों का संकलन. इनमें स्त्री-अनुभव के अनेक स्तर हैं. जीवन की कई तहें इनमें खुलती हैं. देशों और महाद्वीपों की दूरियों के बावजूद ये कहानियां एक साझे सपने और साझी पीड़ा की कहानियां हैं -- साझे एकांत से जन्मीं. सृजनशील एकांत का उर्वर दुख -- जो प्रेम की एक नई परिभाषा -- जीवन का एक नया विन्यास रचने को आतुर है.

अनुवाद : इंद्रमणि उपाध्याय

एक खत अजन्मे बच्चे के नाम

(लघु औपन्यासिक निबंध)

ओरियाना फलासी बीसवीं सदी की विश्व की सर्वाधिक चर्चित पत्रकार रहीं. उनकी किताबें हमेशा एक बड़े पाठक-वर्ग को अपनी ओर खींचती रहीं. अख़बारी लेखन के अलावा उन्होंने राजनीति और समाज पर कई महत्त्वपूर्ण और चर्चित पुस्तकें लिखीं उनके उपन्यास व निबंध पुस्तकें काफ़ी प्रशंसित हुईं. उनके लेखन का एक सिरा जहां एक ओर विश्व-राजनीति के गहरे सवालों से संबद्ध रहा, वहीं दूसरी ओर आम आदमी के संघर्ष और स्त्रीवादी चेतना उसकी धुरी रही. उनकी प्रस्तुत कृति स्त्री-प्रश्नों पर उनकी सोच का अत्यंत मार्मिक व सघन दस्तावेज़ है. यह जहां स्त्री के संवदेना-संसार की बात कहती है, वहीं समाज और सत्ता के द्वंद्व के बीच स्त्री-प्रश्नों को स्थापित भी करती है. एक नितांत मौलिक संवेदना और मर्मस्पर्शी दृष्टि के साथ लिखी गई स्त्री-विमर्श पर अनूठी कृति.

लेखिका : ओरियाना फलासी अनुवाद : स्वर्णकांता

हिंदू स्त्री का जीवन

('द हाई कास्ट हिंदू वुमेन' का अनुवाद)

पंडिता रमाबाई की इस क्रांतिकारी पुस्तक ने अपने समय में जहां एक ओर चर्चा और विवादों को जन्म दिया था, वहीं दूसरी ओर भारतीय स्त्री के जीवन को बदलने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी. एक सदी से भी पहले लिखी गई यह पुस्तक भारतीय समाज में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति और धर्मशास्त्रों के स्त्री-संबंधी विचारों का पैना विश्लेषण करती है. अपनी प्रखरता और दृष्टि के कारण इस पुस्तक का असाधारण महत्त्व रहा. समय बहुत आगे चला आया है, पर आज भी इस पुस्तक की वैचारिकता और सत्यान्वेषी दृष्टि उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी अपने समय में थी. प्रस्तुत है हिंदी में पहली बार स्त्री-विमर्श के इस अनिवार्य पाठ का सहज-सरल व अविकल अनुवाद.

लेखिका : पं. रमाबाई, अनुवाद : शंभू जोशी

आनंदी गोपाल

(आनंदी बाई जोशी के जीवन पर आधारित उपन्यास)

'आनंदी गोपाल' जीवनीपरक उपन्यास है. यह मराठी साहित्य में 'क्लासिक' माना जाता है और इसका अनुवाद कई भाषाओं में हो चुका है. आनंदी की कथा एक प्रखर स्त्री और उसके अनूठे पति की है. आनंदी गोपाल (1865-1887) का विवाह नौ वर्ष की आयु में पच्चीस वर्ष के गोपाल जोशी के साथ हुआ, जिन्हें सिर्फ़ एक ही ज़िद थी कि अपनी पत्नी को ज़्यादा-से-ज़्यादा पढ़ाऊं. उन्होंने पुरातनपंथी ब्राह्मण समाज का तिरस्कार झेला, पुरुषों के लिए भी निषिद्ध, सात समंदर पार अपनी पत्नी को अमरीका भेज कर उसे पहली भारतीय महिला डॉक्टर बनाने का इतिहास रचा. कितने ही दुख उठा कर आर्थिक, शारीरिक कष्ट झेलकर भी आनंदी का अपनी देशवासी बहनों का इलाज करने का सपना पूरा न हो सका. कुल जमा बाईस वर्ष की आयु में तपेदिक से आनंदी का निधन हो गया. महत्त्वपूर्ण यह है कि उसका बलिदान व्यर्थ नहीं गया. ख़ुद को जलाकर उसने अन्य भारतीय स्त्रियों की राह रोशन की. यह कथा आनंदी की है, परंतु आनंदी को डॉ. आनंदी गोपाल बनाने का श्रेय 'गोपाल जोशी' को है. आनंदी की मृत्यु के बाद भी उन्होंने 'स्त्री-शिक्षा' की मशाल जलाए रखी. बेमेल विवाह, अशिक्षा व हिंदू धर्म की संकीर्णता की धज्जियां उड़ाईं. आनंदी गोपाल सौ-सवा सौ वर्ष पुराने भारतीय हिंदू समाज का दर्पण है, एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ है.

लेखिका : ज. जोशी अनुवाद : प्रतिमा दवे

सिमोन द बोवुआर :
स्वतंत्रता और प्रेम की राह (जीवनी)

द सेकेंड सेक्स की विश्वविख्यात लेखिका और नारी-मुक्ति से जुड़े अपने विचारों और सार्त्र के साथ अपने अनूठे और विवादास्पद संबंधों के लिए चर्चित, सिमोन द बोवुआर की अंतरंग जीवन-गाथा; और बीसवीं सदी के विश्वव्यापी साहित्यिक आंदोलनों के बीच उसके और सार्त्र के दोहरे संघर्ष का जीवंत और रोमांचक विवरण. फ्रेंच लेखिकाओं क्लोद फ्रांसिस और फेर्नांद गोंतिए की क़लम से.

अनुवाद : युगांक धीर, रमेंद्रनाथ, पुनरीक्षण–संपादन : आलोक श्रीवास्तव

इज़ाडोरा की प्रेमकथा (आत्मकथा)

बीसवीं सदी की भोर की महान नर्तकी और एक अत्यंत विवादास्पद और उन्मुक्त स्त्री -इज़ाडोरा डंकन- की आत्मकथा 'माय लाइफ' का हिंदी अनुवाद. एक ऐसी अनूठी स्त्री की शब्दयात्रा जिसने अपने समय से सौ साल आगे जीते हुए प्रेम व जीवन के अद्भुत प्रयोग किए. विश्व की श्रेष्ठतम आत्मकथाओं में एक, विश्व की सुंदरतम आत्मकथाओं में सर्वोपरि! अनुवाद : युगांक धीर

मिलेना (जीवनी)

फ्रांज काफ़्का ने अपनी प्रेमिका मिलेना के बारे में लिखा था, "वह जलती हुई आग़ है, ऐसी आग़ मैंने आज तक नहीं देखी. .. साथ ही वह बेहद स्नेहमयी, बहादुर और समझदार है. वह ये सारी चीज़ें अपने त्याग में उंड़ेल देती है, या आप यूं भी कह सकते हैं, कि त्याग के ज़रिए उस तक आती हैं." मिलेना -- जिसने जीवन को उसकी संपूर्णता में जीना चाहा था, जिसका संघर्ष सच्चाई और स्वतंत्रता के लिए था, जिसका जीवन सौंदर्य और प्रेरणा की एक मिसाल है, इस कृति में उसकी इसी ज़िंदगी का प्रामाणिक अंकन हुआ है.

लेखक : मार्गरेट ब्यूबर न्यूमान अनुवाद : सूरज प्रकाश

हॉलीवुड बुला रहा है

(महान अभिनेत्री इंग्रिड बर्गमैन की जीवनी)

इंग्रिड बर्गमेन को दुनिया की महानतम अभिनेत्री कहा जाता है -- और सर्वाधिक सफल अभिनेत्री भी. भारत के अशोक कुमार और अमिताभ बच्चन की तरह ही, चौंतीस वर्षों की लंबी अवधि तक -- 1934 से लेकर 1978 तक -- वह दुनिया की सबसे चर्चित फ़िल्मों में केंद्रीय भूमिकाएं निभाती रही! इतालवी निर्देशक रोबर्टो रोज़ेलिनी के साथ अपने प्रेम-संबंधों -- और अपने पति और बच्ची को छोड़कर उसके साथ इटली में जा बसने के अपने निर्णय -- के कारण वह कुछ समय के लिए विवादों में भी घिरी रही. लेकिन इंग्रिड बर्गमेन के लिए इस तरह के मानवीय संबंध व्यक्तिगत मोह और व्यक्तिगत हितों के दायरे से कहीं ऊपर थे. उसकी आंखों में एक बहुत ख़ूबसूरत, एक बहुत ऊंचा, एक बहुत महान सपना टंगा हुआ था. और उसके दिल में इस सपने को पूरा करने का संकल्प भी था. वह एक असाधारण स्त्री थी.एक अत्यंत रोचक, मर्मस्पर्शी और अविस्मरणीय जीवन-कथा.

लेखक : युगांक धीर

पंडिता रमाबाई की इस क्रांतिकारी पुस्तक ने अपने समय में जहां एक ओर चर्चा और विवादों को जन्म दिया था, वहीं दूसरी ओर भारतीय स्त्री के जीवन को बदलने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी. एक सदी से भी पहले लिखी गई यह पुस्तक भारतीय समाज में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति और धर्मशास्त्रों के स्त्री-संबंधी विचारों का पैना विश्लेषण करती है. अपनी प्रखरता और दृष्टि के कारण इस पुस्तक का असाधारण महत्त्व रहा. समय बहुत आगे चला आया है, पर आज भी इस पुस्तक की वैचारिकता और सत्यान्वेषी दृष्टि उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी अपने समय में थी. प्रस्तुत है हिंदी में पहली बार स्त्री-विमर्श के इस अनिवार्य पाठ का सहज-सरल व अविकल अनुवाद.

संवाद प्रकाशन

किताबें, जिनसे झांक रहा है एक सपना

अक्षर संरचना व आवरण रूपांकन
अरविंद मुखेड़कर